खुर वाले जानवर

[ढोर, भेड़-बकरे, हिरण, शूकर, दरियाई घोड़े, मृग, घोड़े, टापिर, और गेंडे आदि की विविध जातियों के रंग-रूप, आकार स्वभाव, और प्रसार-क्षेत्रों का विशद वर्णन]

लेखक

जगपति चतुर्वेदी, सहा० सम्पादक 'विज्ञान'

कि ता ब म ह ल

इ ला हा बा द

प्रथम संस्करण, १९५५

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७, जीरो रोड, इलाहाबाद।

दो शब्द

हिन्दी में चौपायों के विविध रूपों का वर्णन सुगम तथा रोचक रूप में करने वाली पुस्तकों का अभाव ही है। प्रस्तुत पुस्तक में उन जानवरों का वर्णन किया गया है जो शाकाहारी स्वभाव रखते हैं और इस वृत्ति के ही द्योतक रूप में कदाचित प्रकृति ने उन्हें पैर में खुरों या सिर में सींगों की व्यवस्था की है। हम साधारण रूप में इनकी कुछ जातियाँ जानते हैं किन्तु वैज्ञानिकों ने इनका सूक्ष्म अध्ययन कर वैज्ञानिक रूप में विभाजन करने का उद्योग किया है। अंगों की बाह्य तथा भीतरी रचना या अन्य आधारों पर इनका जो वर्गीकरण किया गया है उनमें हम स्थूल रूप में पैरों में जोड़े (सम) और ताक (विषम) संख्या के खुर होने की बात सहज हृदयंगम कर सकते हैं। घोड़े में एक बिना फटा खुर होता है किन्तु बैलों और भेड़ों, बकरियों, हरिणों में फटे रूप के खुर दिखाई पड़ते हैं। उन्हें दो खुरों वाला जानवर ही यथार्थ में समझना चाहिए। इसी तरह तीन खुरवाले जानवर भी घोड़ों की जातियों के निकटवर्त्ती माने जाते हैं। इन एक या तीन खुर के जानवरों को विषम शफ (खुर) या विषम अँगुलियों के जंतु कहा जाता है। वैज्ञानिक इस श्रेणी को विषमांगुलीय या विषमशफी जंतु कहता है। इस में घोड़े, गदहे, खच्चर, गेंडे और टापिर की ही गिनती है।

गाय, बैल, भेड़-बकरी आदि के पैरों के समान दो या चार शफ (खुर) या कड़े छोरों युक्त अँगुलियाँ रखनेवाले जंतु एक दूसरी श्रेणी बनाते हैं जिनको समशफी या समांगुलीय कहा जाता है। इनमें जंगली या पालतू गाय, बैल, साँड़, भैंसे, हरिण, मृग, भेड़े, बकरे, दरियाई घोड़े, सूअर आदि की गिनती है।

पुस्तक में इन दोनों वैज्ञानिक विभाजनों के मुख्य जंतुओं का परिचय,

रंग-रूप, आकार, वृत्ति तथा प्रसार-क्षेत्र आदि का रोचक तथा कौतूहल-वर्द्धक वर्णन दिया गया है। पाठकों को वैज्ञानिक अध्ययन की ओर सहज प्रवृत्त करने के लिए ही पुस्तक में उनको वंशों तथा उपर्युक्त दो मुख्य श्रेणियों में या गणों के शीर्षकों के नीचे वर्णित किया गया है। यदि उनकी ओर ध्यान न देकर केवल जंतुओं का ही वर्णन पढ़ा जाय तो कोई कठिनाई अनुभव नहीं की जा सकती।

पुस्तक का नाम दुरूह न रखकर सरल प्रतीत होने के लिए "खुर वाले जानवर" रक्खा गया है। हिन्दी में इतना व्यवस्थित रूप देकर सरल रूप में इन जानवरों का इतना अधिक वर्णन देने का अभी तक प्रयत्न नहीं हुआ है। हमें आशा है कि हमारे बाल तथा वयस्क जिज्ञासु पाठक पुस्तक को रुचिकर और ज्ञानवर्द्धक पाएँगे।

श्री एच० चटर्जी तथा कुछ अंश में श्री चन्द्रमोहन गुप्त ने पुस्तक की रोचकता तथा उपयोगिता बढ़ाने में अपनी तूलिकाओं का इन जंतुओं का चित्रांकन करने में जिस उत्साह तथा कुशलता से उपयोग किया है, उसके लिए हम विशेष आभारी हैं।

—जगपति चतुर्वेदी

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

चित्र-सूची

समांगुलीय गण

वृषभ वंश

वृष या वृषभ कहने से हमारा अभिप्राय उस जाति के पशु से होता है जिसे गाय, बैल साधारण भाषा में कहा जा सकता है। गाय या बैल किसी एक नाम से इस जाति का ही बोध होना चाहिये। इसलिए, वृष या वृषभ जाति की जगह यदि गो जाति भी कह दें तो कोई आपत्ति की बात नहीं। भाव प्रकाश में बैल के निम्न प्रकार पर्याय नाम उल्लिखित हैं :—

बलीवर्दस्तु वृषभ ऋषभश्च तथा वृषः।
अनड्वान सौरभेयोऽपि गौरुक्षा भद्र इत्यपि॥

अर्तात् बलीवर्द, वृषभ, ऋषभ, वृष, अनड्वान, सौरभेय, गौ, उक्षा और भद्र बैल के नाम हैं।

बैल के इन पर्याय नामों के उल्लेख तथा वृषभ वंश शीर्षक देने से हमारा प्रयोजन बैल की प्रशस्ति करना या वंशावली वर्णित करना नहीं है। हमने नाम इसलिये दिये हैं जिससे वृष या वृषभ नाम हमारे कानों को स्मृत हो उठे और बैल का प्रचलित सा नाम ज्ञात हो किन्तु दूसरा मुख्य प्रयोजन वह है कि हम इस नाम से उस वैज्ञानिक विभाजन का परिचय दें जिसमें बैल, गाय, भेड़, बकरी, हरिण (स्थिरशृंगी या शून्यगर्भशृंगी), भैंस आदि विभिन्न रूप दिखाने वाले पशु भी शरीर रचना में कुछ विशेष

साम्य रखने के कारण एक परिवार के माने जाते हैं। अब इस वैज्ञानिक तथ्य के द्योतन के लिए इस वंश को बैल वंश नाम दिया जाय तो कुछ अच्छा न लगेगा। इसलिये विस्मृत से होते जाने वाले प्राचीन संस्कृत 'वृषभ' नाम से इसका वृषभ वंश नाम रखना समीचीन हो सकता है।

वृषभ वंश उन जातियों का एक विभाग है जो खुर वाले जन्तु हैं तथा जुगाली (रोमंथ) करते हैं। खुर वाले जन्तु तो बहुतेरे होते हैं किन्तु उनमें भी वैज्ञानिकों ने छान-बीन की है और विशेष रूप से विभाजन किये हैं। एक खुर या बिना खुर रखने वाले जन्तु हमें भूल नहीं सकते। घोड़ा, गधा आदि हमारे परिचित पशु हैं। दो खुरों वाले जानवरों को चिरा हुआ खुर रखने वाला कहते हैं किन्तु यथार्थ में वे दो खुर होते हैं जो पैर की दो उँगलिओं के अन्तिम छोर ही नख के स्थान पर कड़े पदार्थ द्वारा बने होने से खुर या शफ कहलाते हैं। इन दो खुरों की पूर्ववर्ती अस्थियाँ, जिन्हें दो उँगलियों की अस्थियाँ कहनी चाहिये, परस्पर जुट कर प्रकृति की विशेष विधान या विकास के क्रमों द्वारा एक अस्थि का रूप धारण कर लिये होती हैं। यदि घोड़े, गधे आदि पशुओं को एक खुर का जन्तु कहने के स्थान पर एकशफी कहें तो उन्हें इस तरह पुकारने का एक शब्द अच्छा सा मिल जाता है। उन्हीं की भाँति दो खुरों या फटे जान पड़ने वाले खुरों वाले पशुओं गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि को द्विशफी कहें तो युक्तिसंगत बात हो सकती है।

वैज्ञानिकों ने ऐसा न कर यह बात ही मानी है कि किसी प्राचीन युग में पाँच उंगलियों या पादांगुलियों की व्यवस्था कदाचित व्यापक रूप में रही हो। स्थान, वातावरण तथा जीवन क्रम के विभेदों से कालान्तर में विभिन्न पशुओं में विभिन्न परिवर्तन

आवश्यक होते गये। विकास के सर्वमान्य सिद्धान्तों द्वारा पादांगुलियाँ न्यून होती गईं। कुछ में विशेष बल केवल मध्य की उँगली पर देने की व्यवस्था आवश्यक हुई। उनमें मध्यवर्ती उँगली के साथ अगल-बगल की भी एक-एक उँगली भी कुछ में व्यवहार्य रही। ऐसे पशुओं को विषमांगुलीय नाम दिया जाता है। घोड़े, गधे आदि उसी में आते हैं। दो खुरों या शफों के पशुओं में केवल एक उँगली पर शरीर का भार अधिक पड़ने के स्थान पर दो उँगलियों पर बल डालने की व्यवस्था हुई। उनके अगल-बगल की एक-एक उँगली भी कुछ में व्यवहार्य रही। अतएव ऐसे एक या दो जोड़े वाले शफों या खुरों के पशु समशफी या समांगुलीय कहला सकते हैं।

ज़िराफ (उष्ट्र चित्रक), ऊँट तथा दरयाई घोड़े समशफी या जोड़े खुर वाले जन्तु होते हैं, परन्तु वे समशफी या समांगुलीय गण में रह कर भी पृथक वंश बनाते हैं। इस गण में मृग भी एक पृथक वंश बनाते हैं, परन्तु वृषभवंश समशफी गण में सब से बड़ा होता है। उसकी विशेषताओं तथा विभिन्न जातियों के कुछ गुण यहाँ देने का प्रयत्न किया जायगा।

गौर या भारतीय बीसन, सैनी, याक तथा वन्य महिष आदि की गणना भारतीय वन्य वृषभों में हो सकती है। इनकी पहचान यह है कि भारी भरकम शरीर होता है किन्तु रूप पालतू ढोरों से मिलता है। वन्य मेष (भेड़ा) तथा छाग (बकरी) भी इसी तरह पालतू भेड़-बकरियों समान रूप रखते हैं परन्तु डीलडौल बड़ा होता है। ये वन्य पशु भारी भरकम शरीर होने पर भी बड़े क्रियाशील और स्फूर्तिवान होते हैं। बीसन और याक अधिक से अधिक ढालू पहाड़ों पर भी बेधड़क चढ़ जाते हैं। जंगली भेड़, बकरियों के पहाड़ों पर चढ़ जाने की कुशलता के विषय में तो कुछ

कहना ही निरर्थक है। ऊँची बेढब चढ़ाई शीघ्रता तथा सुरक्षित रूप से पार कर लेने में तो इन जंगली भेड़, बकरियों की बराबरी कुछ ही अन्य पशु कर सकते हैं।

शिकारी पशुओं में आक्रमणकारी शक्ति प्रदान करने के लिये चंगुलयुक्त हाथ होते हैं। बानरों, बनमानुसों आदि के हाथों और पैरों में ग्रहणशील उँगलियाँ होती हैं जिनसे शाखा प्रशाखाओं को सहज पकड़ कर वे वृक्षों पर सहज घूम फिर सकें, आहार प्राप्त कर सकें या शत्रुओं से रक्षा कर सकें। खुरवाले जन्तुओं में इन सब सुविधाओं के स्थान पर पैरों में केवल कठोर शफ या खुर ही होते हैं। इससे उनको केवल अपने शरीर को गति देने में ही सहायता प्राप्त होती है। इनके पैरों में खुर होने से विषम से विषम तल से घर्षण से रक्षा प्राप्त होती है। उनके गमन में वेग तथा निश्चिन्तता उनकी गमन पद्धति तथा पैरों की विशेष रचना पर निर्भर करती है। सभी खुर वाले जन्तु अपनी पादाँगुलि के छोरों के बल चलते हैं। अतएव इसका पूर्ण उपयोग होता है और पग की लम्बाई तथा गमन की गति बढ़ती है। किसी गतिशील वस्तु की गति का अवरोध न्यून होने से उसकी गति अधिक होती है। खुर वाले जानवरों में यह अवरोध पादांगुलियों के छोरों के बल चलने से न्यून होता है परन्तु खुरों (शफों) की संख्या न्यून होने से और भी न्यून अवरोध होता है। उनके चलते समय उनके शरीर का भूतल से स्पर्श होने वाला भाग न्यूनतम होता है, अतएव अवरोध भी उसी अनुपात में न्यून होता है। कोई भी मुख्य शफी (खुर वाला) जन्तु चार से अधिक व्यवहार्य पादांगुलियाँ नहीं रखता। कुछ में व्यवहार्य अर्थात् चलने में भूमि स्पर्श कर प्रयुक्त होने वाली तीन ही पादांगुलियाँ होती हैं, परन्तु अधिकांश में दो और अश्व में केवल एक पादांगुलि व्यवहार्य होती है। इन सब

पशुओं में प्रकृति की व्यवस्था एक या अधिक पादांगुलि की अस्थियाँ लंबोतरी तथा दृढ़ कर अन्य पादांगुलियों की कोई आवश्यकता नहीं रहने देने की होती है।

वृषभ, मेष, छाग, हरिण, मृग, शूकर तथा जल-अश्व में तीसरी तथा चौथी पादांगुलियाँ अत्यधिक विकसित होती हैं। अन्य पादांगुलियाँ लुप्त होती हैं या छोटी होती हैं। इन सबमें प्रथम पादांगुलि का सर्वथा लोप रहता है। इसे अँगूठे की जगह की सबसे आन्तरिक पादांगुलि समझ सकते हैं। भीतर से बाहर की ओर गिनने पर हमारी पाँच उँगलियों में से दूसरी (तर्जनी) और पाँचवीं या अन्तिम (सबसे बाहर की ओर की या कनिष्ठा) पादांगुलियों का रूप लुप्त या छोटा होता है। ये ढोरों, हरिण, मृग तथा शूकर आदि पशुओं में क्षुद्र पादांगुलि कहलाती हैं। इनमें दो मध्यवर्ती पादांगुलियाँ अर्थात् तीसरी चौथी पादांगुलियाँ पूर्ण विकसित होती हैं। ये दोनों दीर्घकाय, समान आकार तथा एक समान रूप की होती हैं। पैर की मध्यवर्ती रेखा इन दोनों के मध्य जाती है। इन दोनों पादांगुलियों को आवेष्ठित रखने वाले शफ अपने चौड़े अधोतल से भूमि स्पर्श करते हैं। इनकी पैर के साथ संधि भी विशेष रूप की होती है जिससे तीव्र चलने में बल पड़ने पर धोखा न दे जायँ। इन जोड़े या चिरे हुए जान पड़ने वाले खुरों से विषम भूमि पर अधिक निश्चिन्त आश्रय प्राप्त होता है। नर्म मिट्टी में धसने पर वे फैल जाते हैं और पैर उठाने पर जुट जाते हैं, अतएव अर्द्ध जलमग्न भूमि में भी इनकी गति संभव है। खुरों की रचना तथा आकार पशु के जीवनक्रम तथा स्वभाव के अनुरूप होती है। जंगली भैंसा दलदलों तथा जलमग्न स्थलों का निवासी है। अतएव उसके खुर बड़े तथा चौड़े फैलाव के होते हैं जिससे जलमग्न स्थलों में भलीभाँति चल सके। इसके विपक्ष

बीसन पर्वतों का पशु है, अतएव उसके खुर छोटे तथा गठे हुए होते हैं। वे कठोर तल पर चलने के लिए विशेष उपयुक्त होते हैं।

इन सब वर्णनों से ज्ञात हो सकता है कि वृषभ वंशी तथा उनके समकक्ष जन्तुओं के पैरों की रचना ऐसी होती है कि वे वेग तथा निश्चिन्तता से भाग कर अपने प्रमुख शत्रु हिंसक पशुओं से रक्षा पा सकें। इसके सिवा उन्हें अपने आहार की खोज में लम्बी दूरी तक चलना पड़ता है। ऐसे रूप के पैरों के खुर के कारण वे विषम भूमि की दूर तक यात्रा कर सकते हैं। जंगली ढोर, भेड़, बकरी, हिरण आदि का जीवन क्रम एक समान कठिनाइयाँ उठाने का रहा होगा, अतएव उन सब में शफों या खुरों की ऐसी रचना हुई। वही रूप इनमें से अधिकांश पशुओं के पालतू बन जाने पर आज भी वर्तमान है।

पशुओं की दन्तावली का उनके आहार के प्रकार से गहरा सम्बन्ध होता है। भेड़, बकरी, ढोर आदि का आहार घास तथा अन्य मोटे वानस्पतिक पदार्थ हैं। इनको सुपाच्य बनाने के लिए देर तक कुचलने की आवश्यकता होती है। ऐसे आहार के लिए चर्वणक (चबाने वाले) दाँत विशेष उपयुक्त होते हैं। उनके इन दाँतों का ऊपरी तल चौड़ा तथा कठोर दन्तवेष्ठन (इनेमल) के उभाड़ों और विचित्र मोड़ों युक्त होता है। इन उभाड़ों के दोनों पार्श्वों में अपेक्षाकृत कोमल दन्ती पदार्थ होते हैं। इन दाँतों के चर्वणक तल की रक्षा इन कठोर दन्तवेष्ठनों (इनेमलों) के स्थायी बने रहने तथा कोमल दन्तीय पदार्थों के घिसते रहने से होती है। कृन्तकों (कुतरने वाले जन्तुओं) के दाँतों की रक्षा भी ऐसी व्यवस्था से होती है।

वृषभ वंशी जन्तुओं के सामने के दाँत भी उनके आहार के उपयुक्त ही होते हैं। इस वंश के सभी पशुओं में ऊपरी जबड़े में

कर्तनक (कुतरने वाले या सामने के दाँत) दाँत नहीं होते। उनकी जगह मांस की गद्दी (मसूड़े) ही होती हैं। रदनक दाँत (कुकुरदन्ते या सामने वाले दाँतों के बगल के दाँत) ऊपरी जबड़े में या तो छोटे से होते हैं या उनका सर्वथा अभाव ही होता है। निचले जबड़े में कर्तनक तथा रदनक दाँत अवश्य होते हैं किन्तु कर्तनक दाँतों का रदनक दाँतों से निकट का सम्पर्क होता है। उनको पृथक बता सकना कठिन हो सकता है। घास नोचने के लिए वे आवश्यक उपकरण बन गए हैं। जीभ द्वारा घास मुँह में पहुँचाई जाती है। जीभ की सतह खुरदरे नोकों से आच्छादित होती है जो कंठ की ओर निर्देशित रहती हैं। उनसे ही घास खींचकर मुँह में पहुँचाने का काम निकलता है।

वृषभ वंशी जन्तु भारी-भरकम आकार के होने से बहुत अधिक भोजन की आवश्यकता रखते हैं। उनका मुख्य आहार मोटे रेशेदार वनस्पति होते हैं। उन्हें पचाने के लिए मुँह में देर तक चबाते रहने की आवश्यकता हो सकती है। किन्तु इनके शत्रुओं का भी अभाव नहीं होता। सिंह, बाघ, चीते, भेड़िये, बन-कुत्ते आदि अपनी शक्ति के अनुसार इनमें छोटे या बड़े पशुओं का सहज शिकार किया करते हैं। यदि खुले स्थान में विलम्ब तक उदर पूर्ति की चिन्ता में ही घास नोचते और चबाते पड़े रहें तो आए दिन इनके जान के लाले पड़ते रहें। परन्तु प्रकृति को हिंसकों को आहार रूप में पशु देने की जितनी व्यवस्था करनी पड़ती है उतनी ही हिंस्य या इन निरीह, भोले भाले वृषभ वंशीय पशुओं की रक्षा के लिए भी व्यवस्था रखनी ही पड़ती है।

बुद्धि में न्यूनता का नमूना बताने के लिए किसी भोले-भाले निर्बुद्धि व्यक्ति को बैल से उपमा दी जाती हैं। उसी के नाम से प्रचलित पशुओं की बुद्धि का अधिक विकास होने की आशा की

ही नहीं जा सकती। फिर भी इनकी रक्षा होती ही है। इसलिए प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था की है कि ये पशु घास-पात तो थोड़े समय में ही नोच खा लें परन्तु उसे बचाने के लिए चबाने का कृत्य किसी एकान्त या सुरक्षित स्थान में अपनी सुविधा के अनुसार करें। इस सुविधा को ही जुगाली करना कहते हैं। इस कार्य के लिए उनके आमाशय की विशेष रूप से रचना हुई होती है।

वृषभ वंशी पशुओं का आमाशय चार कोष्ठों में विभाजित होता है। पहले और सबसे बड़े कोष्ठको खाद्य-ग्राहक कोष्ठ कह सकते हैं। इसमें जल्दी-जल्दी में खाया वानस्पतिक पदार्थ, घास-पात आदि संचित होते हैं।

प्रथम कोष्ठ (खाद्य-ग्राहक) में चबाए हुए घास-पात को नर्म करने की क्रिया होती है और नर्म होने के बाद छोटे-छोटे गोलों रूप में वह फिर मुँह में वापस आता है। प्रत्येक गोले या ग्रास को पशु धीरे-धीरे तथा श्रमपूर्वक कुचलते हैं जिसे रोमंथ या जुगाली करना कहते हैं। बिल्कुल लुगदी बन जाने पर खाद्य द्रव्य का चबाया गोला या ग्रास निगल लिया जाता है और उसकी जगह दूसरा ग्रास प्रथम आमाशय कोष्ठ से मुँह में आ जाता है। कुचला हुआ ग्रास द्वितीय आमाशय कोष्ठ में जाता है जिसे बहुछिद्रीय कोष्ठ कहते हैं। उसकी दीवालें मधुमक्खी के छत्ते समान बहुसंख्यक क्षुद्र प्रकोष्ठों युक्त होती है। यहाँ से खाद्य द्रव्य दबाकर भोजन नलिका द्वारा तीसरे तथा बाद में चौथे आमाशय कोष्ठ में जाता है। अंतिम कोष्ठ में ही यथार्थ पाचन क्रिया होती है। गाय, बैल, भेड़, बकरी आदि तो ऐसे पेचीदे रूप के आमाशय रखते ही हैं, हिरण और मृग भी ऐसे रूप के आमाशय रखते और जुगाली करते हैं। ऊँट और मूषक-मृग भी जुगाली करते हैं परन्तु उनके आमाशय की रचना कुछ दूसरे रूप की होती है।

वृषभ वंशी जन्तुओं की एक और विशेषता उनकी सींग की विचित्र रचना है। उनकी सींग में दो भाग होते हैं। एक को आंतरिक और दूसरे को बाह्य कह सकते हैं। बाह्य भाग ही यथार्थ सींग है। तुम्बी लगाने वाले उसी का ऊपरी शीर्ष छेद युक्त कर मुख द्वारा उसे वायुशून्य बनाते हैं। इस कारण किसी मनुष्य की क्षत त्वचा पर चौड़ा मुख चिपका रखने पर रक्त त्वचा के ऊपर आ जाता है। यह बाह्य अंग खोखली शंकुवत नली समान होता है। इसकी रचना जिस पदार्थ से होती है उसी का नाम शृंगीय पदार्थ है। सींग टूटने पर उसके अन्दर हड्डी का शंकु समान उभाड़ दिखाई पड़ता है जो पशुओं के माथे से संलग्न ऊपर बढ़ा होता है। इस अंतरीय शंकु पर ऊपरी सींग की खोखली किन्तु कड़ी नली शंकु के ही आकार में बनी मढ़ी होती है। एक बार उत्पन्न हो जाने पर यह आजीवन रहती है। जुगाली करने वाले पशुओं में वृषभ वंशीय जन्तुओं को छोड़ कर किसी भी अन्य पशु में ऐसे रूप की सींग नहीं होती है।

बैलों की जातियों के अधिकांश उष्ण कटिबंध में रहते हैं। भारतीय जातियों में बीसन, सैनी तथा भैंसे उष्ण कटिबंधीय हैं, केवल याक (चमरी वृषभ) ही शीतोष्ण कटिबंध में पाया जाता है। भेड़, बकरियों को अधिकांश जातियाँ मध्य एशिया में पाई जाती हैं। भारत में उनकी जातियाँ उष्ण कटिबंधीय जंगलों या हिमालय के ऊँचे पर्वतों में पाई जाती हैं। जंगली भेड़ों की उरियल नाम की एक जाति पंजाब तथा पश्चिमी पाकिस्तान के बिलोचिस्तान, सिंध आदि के सूखे ऊजड़ पहाड़ों पर रहने की अभ्यस्त बन गई है। भारत के दक्षिणी पठार में जंगली बकरी की केवल एक जाति नीलगिरि की ऊँचाई तथा आस-पास की पहाड़ियों में पाई जाती है। कम से कम इतनी ऊँचाई पर ही जंगली बकरी पाई जाती हैं।

ऋतु के परिवर्तन का प्रभाव वनस्पतियों पर भी पड़ता है जो पशुओं के आहार होते हैं। इस कारण भिन्न-भिन्न ऋतुओं के जलवायु तथा वनस्पति विभिन्न होने से पशुओं के स्वभाव पर भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणस्वरूप गौर वृषम की बात लीजिये। शीत ऋतु में वे पहाड़ियों की चोटी के घास वाले मैदानों तथा पहाड़ियों के बाँस और द्रुमलता आच्छादित ढालों पर रहते हैं। जब ग्रीष्म ऋतु का आगमन होता है तो चारा तथा पानी के अभाव के कारण उन्हें पहाड़ियों की चोटियाँ तथा ढाल छोड़ देने के लिए विवश होना पड़ता है। उन्हें नदी-नालों के घास भरे तटों पर नीची ऊँचाई के स्थानों में ही शरण लेनो पड़ती है। वर्षा काल में तो उन्हें बहुत दूर-दूर तक चक्कर काटना पड़ता है, परन्तु अन्य ऋतुओं में उन्हें विशेष मासों में विशेष स्थानों पर ही प्रति वर्ष देखा जा सकता है।

मैसूर के जंगलों में गौर वृषभ का निवास जनवरी से मई तक सततप्रवाहिनी सरिताओं द्वारा सिंचित सततहरीतिमायुक्त बनों में रहता है किन्तु जब मई में वर्षा का आगमन प्रारम्भ हो जाता है तो धरा पर हरीतिमा उत्पन्न होने का क्षेत्र नदी नालों के किनारे के अतिरिक्त ऊँचे या दूर के स्थलों में भी फैल जाता है। अतएव गौरों को अपने आहार के लिए पहाड़ियों की चोटियों पर पहुँचा पाया जाता है। उस समय वे चोटियाँ हरी-भरी रहने के कारण प्रचुर आहार प्रदान करती हैं। सितम्बर में पहाड़ियों के पादस्थल में भी यथेष्ट हरियाली उत्पन्न हो गई होती है, अतएव बहुत से गौर वहाँ भी चले आते हैं।

आसाम में नदियों के कछारों में वर्ष भर हरियाली रहती है। अतएव वहाँ जंगली भैंसों को चारे की खोज में अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं होती, अतएव उनकी वृत्ति ही दूर तक घूमने-

फिरने की नहीं होती। उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश में जंगल तो हैं परन्तु वर्षा ऋतु में वहाँ हरियाली अधिक होती है और शीतकाल में भी यथेष्ट पाई जाती है किन्तु ग्रीष्मकाल में घास-पात सूख जाते हैं। छोटे-मोटे तालाब या कुन्ड सूख जाते हैं, अतएव वहाँ वन्यमहिषों को घास की खोज में बड़ी दूर तक जाना पड़ता है। उन्हें कहीं बस्तियों के निकट वाले तालाबों में ही पानी पीने तथा पंक में लोटने के लिए जाना पड़ता है। जहाँ साल भर तक पानी से भरे तालाब होते हैं वहाँ जंगली भैंसे दिन भर पानी में डूबे या कीच में लिपटे पड़े रहते हैं।

वृषभ वंशी जन्तुओं में चमरी (याक) को जितनी भीषण प्राकृतिक शक्तियों से युद्ध कर अपना जीवन यापन करना पड़ता है, इसका अनुमान शस्यश्यामला भूमि में सहज आहार प्राप्त करने वाले पशुओं के मध्य रहने वाले व्यक्तियों को कदाचित ही हो सके। चमरी का निवास तिब्बत के विकट भूखंड में होता है। तिब्बत के ऊजड़ पठारों में कठोर शीत और हिमाच्छादित निर्जन भूमि में शीतकाल में अनेक चमरियों का प्राणान्त हो जाता है किन्तु जिनको जीवन रक्षा करनी होती है वे अपेक्षाकृत नीचे स्थलों, १४००० फुट की ऊँचाई तक के स्थानों में आहार की खोज में चले आते हैं।

कहीं पर तो शीत का आधिक्य जीवन के लिए असह्य होता है, परन्तु दक्षिण भारत सरीखे स्थानों में ग्रीष्म काल का ऊँचा तापमान ही जीवन दूभर करने वाला होता है। पश्चिमी पाकिस्तान की सूखी पहाड़ियों में भीषण गर्मी की ऋतु में उरियल चट्टानों की ओट में छिपकर दिन व्यतीत करता है अथवा जंगलों में भी घुस जाता है। केवल संध्या या उषाकाल के अपेक्षाकृत ठंडे समय में ही आहार की खोज में बाहर आता है। उन्हें ही शीत ऋतु में

या आकाश मेघाछन्न रहने पर दिन भर दौड़-धूप करते पाया जाता है।

प्रकृति में किसी वस्तु की असीम वृद्धि रोकने के लिए स्वतः कुछ व्यवस्था पाई जाती है। हिंसक जन्तु शाकाहारी पशुओं क खा-खाकर उनकी भारी संख्यावृद्धि नहीं होने देते। पक्षी असंख्य कीटों को नित्य खाकर उनकी असीम गति से सन्तानोत्पादन द्वार। संख्यावृद्धि से धरातल को बोझिल होने से बचाते हैं। इसी प्रकार घास-पात, वनस्पतियों की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि की उक्ति चरितार्थ करने के अनुसार वृद्धि को रोकने में प्रकृति शाकाहारी पशुओं का सहारा लेती है मानों संसार के जीव-जगत की व्यवस्थ। में शाकाहारियों की उत्पत्ति धरातल पर वनस्पतियों की अतुल बाढ़ का नियंत्रण करने के लिए ही होती है। प्रकृति की ऐसी व्यवस्था में शाकाहारी पशुओं की संख्या नियंत्रित करने का प्रसंग ध्यान में रखने पर हम देख सकते हैं कि वन्य वृषभ सबसे बड़े आकार के जुगाली करने वाले (रोमंथक) जन्तु हैं। अतएव उनको आहार बनाने वाला हिंसक पशु भी सबसे प्रबल होता होगा। भारतीय बनों में केवल बाघ ही ऐसा बली हिंसक होता है जो जंगली वृषभों (साँढ़ों) का बध कर सके।

जङ्गली मेष (भेड़) तथा छाग अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। अतएव पर्वतों में इनकी बढ़ती हुई संख्या को कम करने के लिए प्रकृति इनका बध तेंदुए (चित्र व्याघ्र), भेड़िये, बन-कुत्ते आदि द्वारा कराती है। वृहत्तम रोमंथकों (जुगाली करने वाले पशुओं) वन्य वृषभ, वन्य महिष आदि की संख्या बाघों द्वारा यथेष्ट न्यून होने का अवसर कदाचित् न मिल सकता हो, इस कारण प्राकृतिक व्याधि रूप के उन संक्रामक रोगों का जब-तब प्रसार होने से इनकी भारी संख्या नष्ट हो जाया करती है।

शाकाहारी पशुओं के सहयोग की बात भी सुनी जाती है। हाथी और भारतीय बीसन (वन्य वृषभ) जंगलों में साथ पाये जाते हैं। इनके साथ पाये जाने के कारणों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कदाचित इनका साथ एक दूसरे को कुछ लाभ पहुँचाने के लिए होता है। इन दोनों का स्वभाव आहार तथा रक्षा पाने के सम्बन्ध में एक समान-सा होता है। ये बाँस की पत्तियाँ अधिक खाते हैं। बाँस लंबा होता है। बीसन (भारतीय वन्य वृषभ) यद्यपि सबसे बड़े आकार का रोमंथक (जुगाली करने वाला) पशु है फिर भी बाँस की सारी ऊँचाई उसकी पहुँच में नहीं हो सकती। और भी कोई ऐसा उपाय उसे सुलभ नहीं होता। हाथी भी बाँस की ऊपरी फुनगी तक नहीं पहुँच सकता परन्तु अपने शुंड की चपेट में वह बाँस की कमर लपेट कर तोड़ देता है। अतएव उससे ऊपरी अंश भी टूट कर नीचे आ जाता है और वह कोमल फुनगियाँ खा लेता है। एक बार बाँस की कमर टूट जाने से जहाँ ऊपरी भाग भी नीचे पहुँच जाता है, वहाँ हाथी द्वारा कोमल फुनगियाँ खा लेने के बाद शेष पत्तियाँ वन्य वृषभ की पहुँच में भी हो चुकी होती हैं। अतएव वह सहज ही अपनी उदर पूर्ति कर लेता है। हाथी के सहयोग से यह सबसे बड़ा लाभ होता है परन्तु हाथी को भी वन्य वृषभ से कुछ लाभ पहुँचता है या नहीं, यह कहना कठिन है।

वन्य वृषभ का संपर्क एक ओर तो बाघ से हिंस्य और हिंसक रूप में होता है, दूसरी ओर हाथी से सहायक रूप में होता है परन्तु इन दो पशुओं के अतिरिक्त बन के किसी अन्य पशु से उसके संपर्क का अवसर नहीं होता। कुछ काट खाने वाली मक्खियाँ अवश्य ही अन्य पशुओं की भाँति उन्हें भी विशेषतया ग्रीष्मकाल में बहुत तंग करती हैं। उनसे जान छुड़ाने के लिए मैदानों में दूर

भाग जाते हैं। ऐसे संकट में पड़ने पर सैनी (ब्राह्म वन्य वृषभ) खुले घास के मैदानों के बीच लेट जाता है। ग्रीष्म तथा वर्षाकाल में जङ्गल के बीच बहुसंख्यक रक्त-शोषक परोपजीवी कीटों से रक्षा पाने का यही मार्ग होता है।

जहाँ तक अपनी जाति के पशुओं से सम्बन्ध रखने की बात है, वन्य वृषभों द्वारा बाघ की तरह अपना-अपना पृथक आहार क्षेत्र बनाने का कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। इस विषय में यथार्थतः खोज नहीं की जा सकी है। इतना अवश्य है कि नर वन्य वृषभ गर्भाधान कराने की ऋतु में गायों का दल एकत्र कर उन्हें अपनी सम्पत्ति बनाकर एक अधिकार क्षेत्र सा बना लेता है। कोई भी अन्य नर वन्य वृषभ उस दल के निकट नहीं आ सकता। उसके आने का विकट प्रतिरोध होता है। अन्य दल भी उसके दल के निकट नहीं आ सकता। अपने दल की गायों पर नर का यह एक छत्र अधिकार केवल उसके पौरुष पर ही आधारित होता है जो अन्य नरों को भगा देता है। किन्तु गर्भाधान ऋतु के पश्चात् कोई ऐसा विशिष्ट अधिकार क्षेत्र कदाचित नहीं रहता। एक दल दूसरे दल के क्षेत्र में आ जा या मिल सकता है। किसी सामूहिक आवश्यकता के कारण अनेक दल संयुक्त भी हो सकते हैं।

अपनी जाति की बात छोड़ दें तो वृषभ वंशीय पशुओं की विभिन्न जातियाँ परस्पर मिलती या एकत्र होती पाई जा सकती हैं। एक ही पहाड़ी पर बीसन तथा सैनी (ब्राह्म वन्य वृषभ) रह सकते हैं। मारखोर छागों को चापशृंगी छागों (आइबेक्स) के साथ चरते पाया जा सकता है। भारल तथा चापशृंगी भी साथ चरते मिलते हैं। बुढ़ाल और ठार साथ चरते ही हैं।

जन्तु जगत में मनुष्य का स्थान सबसे ऊँचा है। प्रायः सभी जन्तु उससे भय खाते और दूर रहना चाहते हैं। रोमंथक (जुगाली

करने वाले) पशुओं में सर्वश्रेष्ठ गौर (वन्य वृषभ) भी मनुष्य से प्राय: दूर ही रहना चाहते हैं। उसे स्वभाव से डरपोक जानवर कहा जा सकता है। किन्तु एक आहत गौर या एकाकी वन्य वृषभ मनुष्य पर आक्रमण भी कर सकता है। अपवादों को छोड़कर गौर प्रायः बस्तियों से दूर रहता है। खेतों में नहीं घुसता। फसल नहीं खाता। किन्तु ब्राह्म वन्य वृषभ (सैनी) गौर से कम डरपोक होता है। वह बस्तियों में घुस सकता है और कभी-कभी खेतों में घुस कर फसल भी खा जाता है। जंगली भैंसे मनुष्यों से नहीं घबड़ाते। आदमी के निकट आ जाने पर भी वे नहीं भागते। ये खेतों में घुस जाने पर बड़ी कठिनाई से भगाये जा सकते हैं, अतएव इनसे फसलों को भारी हानि पहुँचती है। भारतीय वृषभ वंशी पशुओं में वे सब से अधिक साहसी तथा जंगली होते हैं।

मनुष्य ने अपने बाहुबल तथा शस्त्रबल से अधिकांश वन्य पशुओं का संहार किया है। उस संहार वृत्ति को हम सभ्यता की वृद्धि कहते हैं, परन्तु पशुओं की दृष्टि से वही बध क्रिया होगी। नगर बसते गये हैं, बन कट कर खेत बनते गये हैं, इससे बेचारे वन्य वृषभ पीछे हट-हटकर केवल बचे-खुचे जंगलों में जा बसे हैं। मिदनापुर जिले तथा उड़ीसा से तटीय भागों और मध्य प्रदेश के निकट जहाँ पहले वन्य वृषभों का साम्राज्य था, वहाँ आज उनका सर्वथा लोप हो गया है।

वन्य पशुओं को मनुष्य से कितनी ही बाधाएँ तथा हानियाँ होती हैं। जहाँ मनुष्य की पहुँच होती है, वहाँ वन्य पशु उसके निकट आने-जाने का समय अनुमान कर उसके उनुपस्थित रहने के समयों में ही बाहर खुले स्थल में चारा चरने निकलते हैं। मनुष्य ने उन पर अन्य रूपों में भी वज्रपात किया है। उसके पालतू पशु पशु-संक्रामक रोग (रिंडरपेस्ट) तथा खुरपका (मुख और खुर रोग)

से आक्रान्त होकर बहुसंख्यक रूप में मृत होते हैं। वे पशु इन रोगों से ग्रस्त होकर जिन गोचर भूमियों में भ्रमित हुए होते हैं उनमें उन रोगों के कीटाणु भी प्रसारित हो गये होते हैं। अतएव जब बेचारे वन्य पशु उन्हीं भूमियों में चारा चरने के लिए आते हैं तो उन रोगों के कीटाणु उन पर भी रोग का प्रसार कर उनका संहार करते हैं।

रोमंथकों (जुगाली करने वाले पशुओं) में वृषभ वंश के भार-वाहक पशुओं की कथा यथेष्ट प्राचीन है। कृषि में सहायता देने, दूध देने या अन्य अनेक उपयोगों को भी मनुष्य जाति पुरातन काल से जानती आ रही है। भारत में हमें जो पालतू ढोर दिखाई पड़ते हैं उनकी उत्पत्ति में इन वन्य रोमंथकों, भारतीय बीसन, (वन्य वृषभ), सैनी (ब्राह्म वन्य वृषभ), याक (चमरी) और वन्य महिष का बहुत-कुछ हाथ रहा है। यह कहा जाता है कि भारत में अग्र पीठ पर उभाड़ (ककुद) वाले बैलों की उत्पत्ति ब्रह्म देश के वन्य वृषभ (सैनी) या कुछ उससे ही मिलती-जुलती किसी विलुप्त जाति से हुई है। इनके माथे की रचना, मिथ्या शफों (दिखावटी खुरी) के विकास तथा सैनी के पिंगल (पीले भूरे) वर्ण के साम्य के आधार पर ही ऐसी कल्पना की गई है।

अग्र पीठ पर ककुद वाले भारतीय वृषभ (काकुत्थ या ककुद धारी) तथा सपाट पीठ वाले या ककुदहीन योरोपीय वृषभ की नस्लें औरोक या वन्य महावृषभ नाम की एक विलुप्त जाति से ही उत्पन्न मानने की धारणा कुछ विद्वानों में पाई जाती है, परन्तु कुछ का विचार है कि कदाचित ब्राह्म वन्य वृषभ के स्कंध देशीय उभाड़ ने ही विकसित होकर भारतीय नस्ल के वृषभों में अग्र पीठ के ककुद का स्थान ग्रहण किया। यह बात निस्संदेह है कि भारत में, ककुद युक्त तथा ककुदहीन, दोनों ही जातियों के वृषभों का ज्ञान था। मोहेनजोदड़ो की खुदाई में जो मुद्रायें प्राप्त हुई हैं उनमें इन दोनों

प्रकार के वृषभों के चित्र खचित पाए जाते हैं। हम जब यह सोचते हैं आज से ५, ६ सहस्र वर्षों पूर्व कीइस मोहनजोदड़ो की सभ्यता के समय वृषभों की ये दोनों जातियाँ कैसे वर्तमान थीं जो आज नहीं पाई जातीं तो बड़ा विस्मय होता है।

ब्राह्म वन्य वृषभ (सैनी) को बोर्नियो तथा जावा के भागों में पालतू बनाने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो सकी है, परन्तु वृषभवंशियों में भव्यतम जाति गौर वृषभों को पालतू बनाना असम्भव ही रहता आया है। फिर भी भारतीय वृषभ की नस्ल सुधारने में इसका उपयोग किया गया है। गौर तथा सैनी, दोनों ही भारतीय गो जाति को गर्भाधान करा सकने में योग देते हैं। अतएव ऐसी वर्णसंकर संतान अर्द्ध पालतू रूप में आसाम की पहाड़ी जातियाँ पोषित करती हैं। इसे मिथन या मैथेन नाम दिया जाता है। आसाम में गौर वृषभ का योगदान प्राप्त कर गर्भधारण करने का अवसर प्रायः मिलते रहने से मिथन जाति के वृषभ अपना बलिष्ठ रूप स्थिर रखते हैं, परन्तु कुछ ही पूर्व चिन की पहाड़ियों में गौरों का अभाव-सा होने से गर्भाधान में उनका योगदान अधिक नही मिल सकता। वहाँ मिथन वृषभ अपना बलिष्ठ रूप क्षीण करते पाये जाते हैं। वे ठिगने बन जाते हैं, पैर छोटे हो जाते हैं, तथा उनमें प्रायः मिथ्या शफ (दिखावटी खुर) विशेष विकसित हो जाते हैं, परन्तु शुद्ध गौर वृषभों की स्पष्ट विशेषता यह होती है कि उनके मिथ्या शफ (ऊपर के दो दिखावटी खुर) कभी भी अधिक विकसित नहीं हो सकते। पालतू नस्लों द्वारा गर्भाधान होते रहने से पीठ का ककुद भी कम हो जाता है जो गौरों में सदा उन्नत रहता है और उनका रूप प्रभावोत्पादक बनाये रहता है। सींग भी परिवर्तित होकर गाय सी हो जाती है और पालतू गाय के समान शरीर पर विभिन्न रंग उत्पन्न होने लगते हैं किन्तु शुद्ध

गौर तो सचमुच ही गौर या गेहुँए रङ्ग का होता है। यदि गौर वृषभ तथा पालतू वृषभ जातियों के मिश्रण से उत्पन्न वर्णसंकर जाति की उत्कृष्ता क्षीण न होने देना हो तो इस मिथन या वर्ण-सङ्कर वृषभ जाति को समय-समय पर शुद्ध गौर (वन्य वृषभ) से पालतू वृषभ जाति का गर्भाधान कराना आवश्यक होता है।

तिब्बत तथा मध्य एशिया के ऊँचे पठारों की वन्य वृषभ जाति याक (चमरी) को पालतू बना लिया गया है। शुद्ध रूप का उत्पन्न पालतू याक (चमरी) बहुत ही उत्तम पशु होता है। उसमें वन्य याक (चमरी) की अपेक्षा आकार रूप या बल कुछ भी कम नहीं होता। तिब्बत में भी जो वन्य याक होता है उसी का पालतू रूप रूपसू पठार के तातारी लोग रखते हैं। इस याक (चमरी) द्वारा लद्दाखी पालतू वृषभ जाति का संयोग कराकर वर्णसंकर वृषभ उत्पन्न करने का उद्योग किया गया है। चमरी या याक साँढ़ का पालतू गाय से संयोग कराकर दोगली संतान उत्पन्न कराई जाती है। उसे 'ज़ो'-नाम दिया गया है। ये वर्णसङ्कर पशु शृंगीय तथा शृंगहीन, दो नस्लों के होते हैं। किन्तु आगे की पीढ़ी में शृंगीय वर्णसंकर वृषभ शृंगीय संतान ही उत्पन्न करता है और शृंगहीन द्वारा शृंगहीन संतान ही सदा उत्पन्न होती है। यह वर्णसंकर संतान आकार में कुछ छोटी अवश्य होती है परन्तु इसमें अधिक तापमान सहन करने की शक्ति होती है। अतएव उच्च पर्वतीय चमरी की संतान होने के नाते इसमें पर्वत लंघन करने के गुण तो होते ही हैं, परन्तु नीचे तल में आ सकने की क्षमता भी वर्ण-संकरता के कारण उपलब्ध होती है। काश्मीर और लद्दाख के मध्य ये ही भारवाहक वाहन का काम करते हैं। हिमालय के आर-पार निर्जन स्थलों की यात्रा में इनकी ही सहायता मनुष्य की पहुँच करा सकती है।

भारतीय पालतू भैंस (महिष) के वन्य महिषों की संतान होने में कोई संदेह ही नहीं है। इसकी जाति सीमित भूभागों में ही पाई जाती है। अतएव इनकी विभिन्न जातियाँ विभिन्न भूभागों में नहीं पाई जातीं। इनका रङ्ग रूप वन्य महिषों सा ही होता है। इतना अवश्य किया गया है कि उचित नर-मादा का निर्वाचन कर उत्कृष्ट नस्ल के पालतू महिष उत्पन्न होकर अधिक उपयोगी सिद्ध हों।

भेड़, बकरियों के पालतू रूपों की उत्पत्ति ईरान की जङ्गली बकरी से मानी जाती है। पालतू भेड़ों को भी इसी प्रकार किसी वन्य जाति की संतान माना जा सकता है। उरियाल भेड़ें जङ्गली होती हैं। वे पालतू भेड़ों के साथ गर्भाधान में सहयोग करती हैं। इससे नस्ल भी अच्छी बनती हैं।

गौर तथा अन्य वृषभों में घ्राण शक्ति कदाचित् अत्यधिक विकसित होती है। अनेक वन्य वृषभों के शरीर से तीव्र गंध उत्पन्न होती है। वह एक प्रबल साधन होगा जिससे दल के अन्य सदस्यों से सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। बहुत से वृषभों में गंधोत्पादक विशेष ग्रन्थि भी होती है जो इस प्रकार संबंध स्थापित रखने में सहायक होती है।

अधिकांश प्रमुख मेष जातियों में एक मुखाग्र ग्रंथि होती है जो आँख के ठीक नीचे माथे के एक छिछले छिद्र में होती है। ऊरु संधि (उदर और जंघे के जोड़) में भी एक जोड़ी ग्रंथियाँ होती हैं जिन्हें ऊरुसंधीय ग्रंथि कहते हैं। पैर के दो मुख्य खुरों (शाकों) के मध्य भी एक ग्रंथि होती है। इस दृष्टि से भेड़ों का वृषभों से मत-भेद होता है क्योंकि ये ग्रंथियाँ वृषभों में नहीं पाई जातीं। छागों से भी उनका विभेद होता है। उरियाल (शापू) वन्य भेड़ों की पाद-ग्रन्थि से एक स्पष्ट अर्द्ध द्रव स्रवित होता है जिसमें एक धीमी

गंध होती है। इन पाद-ग्रन्थियों से स्रवित गंधोत्पादक रस मिट्टी से सिंचित हो जाता है। अतएव जिन भूभागों पर से भेड़, बकरियों का दल चला होता है उसके वासित हो जाने से दल का कोई पीछे छूटा या भूला-भटका सदस्य उस वास की सहायता से पुनः अपने दल में जा मिलता है। इसी प्रकार जब भेड़ें कभी भूमि पर बैठी होती हैं तो उनकी ऊरुसंधि (उदर और जंघे के बीच का जोड़ या पिछली काँख) भूमि से स्पर्श करती है। इस कारण ऊरु-संधीय ग्रन्थियों की वास मिट्टी में मिल जाती है। इससे भी दल के भूले-भटके सदस्यों को मार्ग-निर्देश प्राप्त हो सकता है। प्रमुख छागों में मुखाग्रीय ग्रन्थियों और ऊरुसंधीय ग्रन्थियों का अभाव ही होता है। अगले पैर के खुरों के मध्य वास-ग्रंथियाँ हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकतीं परंतु पिछले पैरों के खुरों में तो वास-ग्रंथियों का अवश्य अभाव होता है। इस प्रकार भेड़ों को हम दल रूप रह सकने के लिए अधिक उपकरणोंयुक्त पाते हैं।

गौर वृषभ प्रायः आठ या दस के झुण्ड में रहते हैं। ऐसा झुण्ड मुख्यतः पारिवारिक दल होता है। चारे की खोज या अन्य कारणों से कई दल एकत्र हो सकते हैं। गर्भाधान काल न होने पर छोटे-बड़े अनेक आकार के साँड़ एकत्र रहते हैं। दल में गायें भी रहती हैं मानों दल में किसी का किसी से किसी तरह का विरोध ही नहीं। प्रौढ़ साँड़ चारे की खोज में अकेले या अन्य प्रौढ़ साँढ़ों के साथ घूमते-फिरते रहते हैं। परंतु प्रायः बहुत दूर नहीं जाते। गर्भाधान काल आने पर प्रौढ़ साँड़ों में गायें प्राप्त करने के लिए भीषण संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। उनकी दल भावना, पारस्परिक सहिष्णुता सर्वथा लुप्त हो जाती है। जो साँड़ अकेले चरा करते हैं वे भी दल में घुस कर गायों के लिए होड़ करते हैं। विजयी साँड़ गायों का अधिकारी बनता है, अन्य सभी प्रौढ़ साँड़

दल से दूर भगा दिये जाते हैं। केवल अल्पवय साँड़ (नर वृषभ) ही दल में पड़े रहने दिये जा सकते हैं। दलपति साँड़ अपना एक आहार क्षेत्र बना लेता है जहाँ दूसरे नहीं आने दिये जाते।

गर्भाधान काल समाप्त होने पर दलपति साँड़ अपने दल का साथ छोड़कर कहीं एकाकी जीवन व्यतीत करने चला जाता है। अगले वर्ष के गर्भाधान काल के आगमन तक वह अकेले या अन्य साँड़ों के साथ निरापद रूप से समय व्यतीत करता रहता है। अगले वर्ष गायों को प्राप्त करने के लिए वह पुनः संघर्ष करता है। अधिक वृद्ध हो जाने पर उसकी संतानोत्पादन भावना प्रायः मिट-सी जाती है। अतएव वह स्थायी रूप से एकाकी रहने लगता है। जब गर्भिणी गाय के प्रसव का समय आ जाता है तो वह दल से पृथक हो जाती है और कहीं एकान्त स्थल में शिशु जनन करती है। नवजात शिशु घास में दबा छिपा-सा पड़ा रहता है। केवल उसका मुख ही ऊपर निकला दिखाई पड़ सकता है। मादा निकट खड़ी शिशु की रक्षा करती रहती है। अन्य वृषभीय जातियों में भी यही बात पाई जाती है कि अपेक्षाकृत वयस्क नर गर्भाधान काल के अतिरिक्त प्रायः मादा से दूर रहते हैं। शिशु पालन का भार मादा पर ही पड़ता है।

हरिण और छागों के मध्यवर्ती से पशुओं को छाग हरिण नाम से एक उपविभाग बनाकर वृषभवंशी पशुओं में गिना जाता है। इस उपविभाग या उपवंश में सेरो (शंकुश्रृंगी वन्य छाग-हरिण), गोरल (क्षुद्रश्रृंगी छाग-हरिण) तथा टाकिन (उन्नतोदर मुखी छाग-हरिण) गिने जाते हैं। ये सभी पर्वतवासी होते हैं तथा लगभग छागों-सा ही रूप होता है, दाँत छागों की तरह होता है, पूँछ छोटी होती है। इनके नर और मादा दोनों में ही छोटी नलिकाकार सींगे होती हैं। योरोपीय छाग-हरिण की जाति चमाय

नाम की होती है। उत्तरी अमेरिका की राकी पर्वतमाला में भी एक छाग-हरिण होता है।

चमाय नामक एक मात्र जाति का छागहरिण ही योरप में पाया जाता है। सिर की लंबाई के बराबर सींग होती है जो अंकुश

चमाय छाग-हरिण

के आकार की होती है और पीछे मुड़ी होती है। गर्मी में मटमैला लाल भूरा रंग होता है, पीठ के बीच में काली पट्टी होती है। अधोतल लाल पीला होता है। जाड़े में बाल लम्बे हो जाते हैं। सिर और धड़ की लम्बाई ४३ इञ्च तथा पूँछ की लम्बाई १$\frac{१}{२}$ इञ्च होती है। इसका निवास आल्प्स, आप्पेनाइन, और कारपेथियन पर्वतों में है। इसकी स्थानीय उपजातियाँ पिरेनीज तथा स्पेन के

अन्य ऊँचे स्थल, काकेशस, और एशिया माइनर में पाई जाती हैं। यह दल बनाकर चलता है। वृक्ष उत्पन्न होने के क्षेत्र की उच्चतम सीमा तक जाता है। गर्मी में हिमनदों द्वारा प्रवाहित कबाड़ के अंतिम ढेर तक चढ़ जाता है।

राकी पर्वतीय छागहरिण अमेरिका का एकमात्र छागहरिण है जो ब्रिटिश कोलंबिया, मोंटाना इडाडो, वाशिंगटन की राकी पर्वतमाला तथा दक्षिणी अलास्का तक की तटीय पर्वतमाला में रहता है। नर की ऊँचाई कंधे के निकट औसत ४० इञ्च होती है। शरीर का भार लगभग ३½ मन होता है। सींग की लम्बाई औसत ६ इञ्च होती है। बाल लम्बे और श्वेत होते हैं जो मूलवासियों द्वारा बुनाई में प्रयुक्त होते हैं।

सेरो (शंकुशृंगी छागहरिण) और गोरल (क्षुद्रशृंगी छाग-

क्षुद्र शृंगी छाग-हरिण
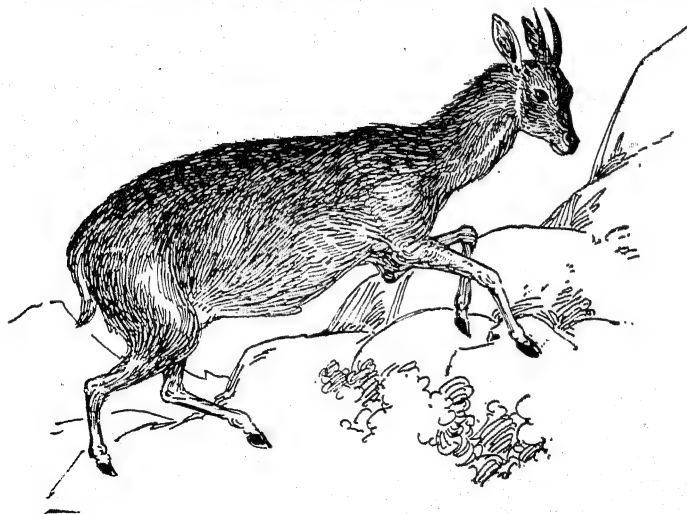
हरिण) में विशिष्ट रूप की शंकाकार सींग होती है। वे पीछे झुकी होती हैं किन्तु योरोपीय छागहरिण (चमाय) में तो वे इतनी अधिक मुड़ी होती हैं कि अंकुश का रूप बन गया होता है। सेरो और गोरल में दिखावटी समानता होती है; परन्तु कपाल की रचना में विशेष विभिन्नता होती है। इसके अतिरिक्त एक और भेद यह होता है कि गोरल में मुखाग्रीय ग्रंथि नहीं होती, परन्तु सेरो में यथेष्ट विकसित मुखाग्रीय ग्रंथि होती है जो माथे के एक गड्ढे में स्थित होती है। यह ग्रंथि अपनी क्षुद्र नलिका का मुख आँख के सम्मुख खोलती है। कभी-कभी यह छिद्र छोटे घाव-सा प्रतीत होता है। उससे उजला-सा द्रव स्रवित होता है। वह सूख जाने पर एकरस बन जाता और बास देता है। सेरो में छागों की विशेष महक शरीर से निकलती रहती है। भेड़ों और छागों के शरीर की यह बास त्वचातल से उत्पन्न अनुमान की जाती है। उसको उत्पन्न करने वाली कोई विशेष बास-ग्रंथि नहीं होती।

गोरल (क्षुद्रशृंगी छागहरिण) सेरो की अपेक्षा छोटे होते हैं। उनमें मुखाग्रीय बास-ग्रंथि नहीं होती किन्तु भेड़ों के समान उनके पैरों में बास-ग्रंथि होती है। इस ग्रंथि का मुख खुरों के ऊपर पैर के ठेवने के सामने छोटे रंध्र रूप में खुलता है। यह नहीं कहा जा सकता कि सेरो के पैरों में भी ऐसी बास-ग्रंथि होती है या नहीं। कपाल की रचना में गोरल टाकिन से समानता रखता है। इससे इन दोनों में बंधुत्व अनुमानित होता है। परन्तु शरीर के बाह्य रंग-रूप में इन दोनों में भारी विभिन्नता दिखाई पड़ती है।

टाकिन भारी-भरकम शरीर का पशु है जो छागहिरणों की उल्टी बात होती है। इसकी सीगें मोटी और आधार तल में लगभग जुटी सी होती हैं। वे पहले बाह्यवर्ती होकर पुनः निम्नवर्ती या अग्र-

वर्ती होती है फिर अकस्मात ऊर्ध्ववर्ती या पश्चातवर्ती झुकाव कर सिर के ऊपरी तल के समवर्ती तल पर बढ़ी होती है।

हरिण और क्षुद्र-हरिण भी वृषभवंश के उपविभाग या उपवंश हैं। इन्हें भी रोमंथक (जुगाली करने वाले) तथा द्विशफीय या समशफीय (जोड़े खुर वाले) पशु होने का गौरव प्राप्त है। यही नहीं, बल्कि इनकी सींग भी वृषभवंशीय होती है। कुछ व्यापक गुणों की बात भुला देने पर एक ओर इन्हें ढोरों-सा समझने में भी कठिनाई होती है। दूसरी ओर इन्हें भेड़ बकरियों के हीन-विभाग में भी डालना ठीक नहीं जान पड़ता, अतएव इन्हें ढोरों और भेड़-बकरियों दोनों ही के मध्य का पशु कहा जा सकता है, परन्तु वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार कुछ समान गुणों के होने से ये सभी वृषभ वंश में लिये जाते हैं।

एक बड़ी महत्वपूर्ण बात यह है कि जन्तुओं के विकास में वृषभवंशी पशुओं में हरिणों का स्थान सबसे प्राचीन सिद्ध होता है। वे ढोरों से भी पूर्व उत्पन्न या विकसित हो सके थे। वे प्राचीन-तम रोमान्थक पशु हैं। कदाचित इनसे ही एक ओर तो ढोरों का जन्म हुआ और दूसरी ओर भेड़, बकरियों का विकास हो सका। हरिणों में भी दो उपवंश माने जाते हैं। एक उपवंश में तिब्बती हरिण या चीरू की गिनती है जिसे फूली हुई नासिका होने के कारण नासाशोथ हरिण नाम दिया जा सकता है। तिब्बती हरिण का निकटतम बंधु अफ्रिका का सैगा हरिण होता है जिसकी गिनती इसी उपवंश में की जाती है। केवल ये दो जातियाँ ही इस उपवंश में मिलती हैं। सैगा की नाक भी फूली हुई और बड़ी लंबी होती है। वह निचले जबड़े से भी नीचे लटकी होती है। कंधे के निकट शरीर की ऊँचाई २½ फुट होती है। शरीर की पूर्ण लम्बाई ४½ फुट होती है जिसमें चार इञ्च पूँछ की ही लम्बाई होती है। यह पश्चिमी

एशिया तथा दक्षिणी पूर्वी रूस में पाया जाता है किंतु करोड़ों वर्ष पूर्व प्लीस्टोसीनी काल में यह दक्षिणी पूर्वी इंगलैंड तक प्रसारित था जिसके प्रमाण इसके प्रस्तरावशेष रूप में आज भी रक्षित हैं।

हरिणों की अन्य जातियों तथा क्षुद्र या लघु हरिणों की गिनती एक दूसरे उपवंश में की जाती है। इन सब की रचना भव्य होती है। सींग का मादा में होना आवश्यक नहीं, परन्तु नर में उसे सदा प्रायः लम्बा, लगभग बेलनाकार और अधिकांशतः पाश्चात्य वीणा का आकार बनाता-सा पाया जाता है। वे प्रायः रेखा-मुद्रिकाओं या गाँठ बनाने वाले गोल आड़े उभाड़ों युक्त होती हैं। इसकी सींग अन्य वृषभवंशीय जन्तुओं समान खोखली अवश्य होती है परन्तु उसके भीतरी आधार के अस्थिनिर्मित खण्ड में कुछ अंतर होता है। हड्डी से बनी वह भीतरी सींग ढोरों, भेड़ बकरियों में मधुमक्षिका के छत्ते की भाँति बहुरंध्रमय होती है जिसमें वायु रहने का स्थान होता है, परन्तु हरिणों और क्षुद्र हरिणों में वह अस्थि-खण्ड प्रायः ठोस-सा ही होता है।

हरिणों में आँखों के नीचे प्रायः एक ग्रंथि होती है। इस बात में वे ढोरों और छागों से विभिन्नता रखते हैं। भारतीय हरिण या कृष्ण हरिण (एण) में आँख के नीचे फूली हुई ग्रन्थि ध्यान आकर्षित कर लेती है। बाह्य रूप में यह ग्रन्थि प्रायः रोमहीन (नग्न) काली त्वचा का खड़ा चीरा बनाये होती है। इस चीरे का प्रवेश एक रोमाच्छादित दीवारों युक्त गहरे छिद्र में होता है जिसमें अन्तःस्थित ग्रन्थि का स्रवित द्रव आता है। ऊरुसंधीय ग्रंथि भी होती है जो बड़ी होती है। खुरों के मध्य भी बड़ी ग्रंथि रहती है। इन ग्रंथियों का प्रयोजन दल में संदेशवहन होता होगा।

यदि हरिण भव्य रूप के होते हैं तो क्षुद्रहरिण भव्यतम रूप के कहे जा सकते हैं। उनका विशिष्ट रूप बलुहा रंग तथा मुख की

पार्श्ववर्ती श्वेत पट्टियाँ होती हैं। तिब्बतीय क्षुद्रहरिण में मुखचिह्न नहीं होता। नर और मादा दोनों में ही सींग होती है। वे पूर्णतः रेखा-मुद्रिकांकित होती हैं। उनके घुटने पर से बालों का गुच्छ निकला होना विशेषता है।

भारतीय हरिणों की दो जातियाँ शीतोष्ण कटिबंधीय हैं। वे तिब्बती हरिण तथा तिब्बती क्षुद्रहरिण हैं। वे तिब्बत के पठारों में रहती हैं। शेष जातियाँ उष्ण-कटिबंधीय हैं। ये पशु खुले तथा घास के मैदानों के ही जन्तु हैं। किसी समय उत्तरी भारत के मैदान निर्जन रूप में रहे होंगे। उस समय हरिणों और क्षुद्र हरिणों का सर्वत्र प्रसार पाया जाता रहा होगा परन्तु अब तो उनको मनुष्य ने अपनी बस्तियों और खेतों रूप में परिणत कर लिया है। अतएव इनका प्रसार सीमित क्षेत्रों में ही रह गया है।

वृषभ-वंशी जातियाँ

वन्य वृषभ (गौर)

स्था० नाम—गावर, या गावरी गाय, बन बोडा बन पाड़ा (हि०), पेरा माऊ (गोंड), गावइया (मरा०) करकोनट (कन्न०). कटएनी (तामि०), स लंडंग (मलाया) प्योंग (बर्मा)

नर गौर की ऊँचाई कंधे के निकट ६ फुट ४ इञ्च होती है। औसत ऊँचाई ६ फुट से दो चार इञ्च कम ही होती है। मादा चार इञ्च छोटी होती है। दक्षिणी भारत की पहाड़ियों तथा आसाम में गौर अधिक विकसित पाया जाता है। सींग की लम्बाई औसत रूप में २७ इञ्च होती है परंतु ३० इंच तक भी पाई जाती है। मादा में छोटी तथा अपेक्षाकृत दुर्बल सींगें होती हैं। वे अधिक गोल तथा कम झुकाव की होती हैं। वयोवृद्ध नर का तोल २५ मन होता है।

गौर का शरीर भारी भरकम, सिर विशाल, पैर पुष्ट होने से बल और पराक्रम की प्रतिमूर्ति ही प्रकट होता है। इसके स्कंध पर मांसल ककुद दर्शनीय होता है जो कुछ ढालू बनकर पीछे पीठ की ओर जाता है तथा उसकी अकस्मात समाप्ति हो जाने से एक हल्का गर्त्त सा बना होता है। नवजात गौर धूमिल स्वर्णिम पीत वर्ण का होता है जो शीघ्र ही केशरिया रंग में परिवर्तित हो जाता है। फिर हल्का भूरा बनकर अन्त में रक्तिम भूरा हो जाता है। युवा नरों तथा मादा का यही रङ्ग होता है। वृद्ध नर का रंग घोर काला होता

है तथा शरीर लगभग पूर्ण रोमहीन हो जाता है। भाल का रंग भस्मीय तथा घुटने के नीचे पैर का रङ्ग श्वेत होता है। नेत्र भूरे होते हैं।

गौर या वन्य वृषभ का प्रसार क्षेत्र भारत के पहाड़ी जङ्गल तथा पूर्व की ओर बर्मा तथा मलाया प्रायद्वीप तक है।

गयाल (पालतू गौर)

गौर के पालतू रूप के पशु को गयाल कहते हैं। इसका आकार वन्य गौर से अपेक्षाकृत छोटा होता है। कंधे के निकट इसकी
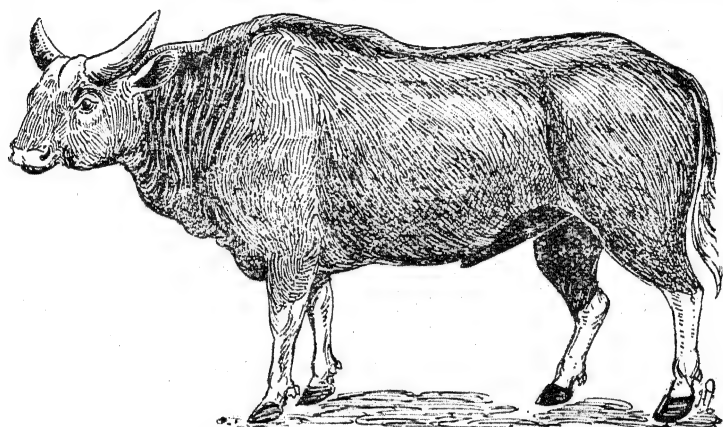
गयाल (पालतू गौर)

अधिक से अधिक ऊँचाई ५५ इञ्च होती है। सींगें गौर की तरह सिरों पर पीछे मुड़ी नहीं होतीं, बल्कि सीधी होती हैं। शरीर का रंग कलौंछ भूरा होता है। मुख पर भूरापन, पैर के निचले भाग पर उजलापन युक्त रंग होता है। सींगें कलौंछ होती हैं जिसमें कुछ

पीलेपन की भी झलक होती है। यह पालतू तथा अर्द्ध जङ्गली रूप में बर्मा तथा पूर्वी पकिस्तान में चटगाँव में पाया जाता है।

बीसन (पाश्चात्य वन्य वृषभ)

बीसन बड़े आकार का जंगली साँड़ है जिसके शरीर पर मोटा ऊनी आवरण होता है। विशेषकर शरीर के अगले भाग में बालों
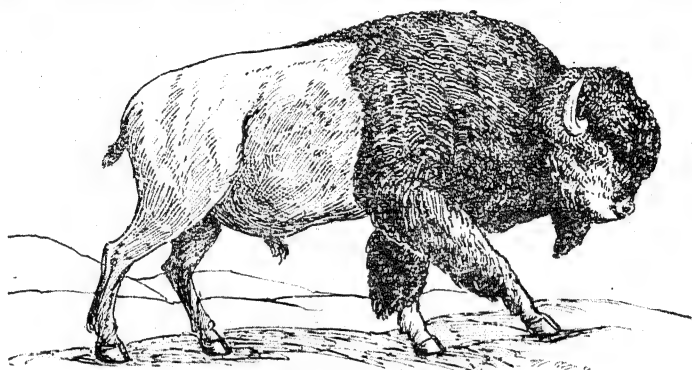
बीसन

की अधिक बाढ़ होती है। एक डाढ़ी भी निकली होती है। सींग गोली होती है। कंधे के निकट उभाड़ (ककुद) होता है। योरप में तो केवल पशु-शालाओं में ही पाया जा सकता है, परन्तु अमेरिका में जङ्गली रूप में पाया जाता है।

ब्राह्म वन्य वृषभ

स्था० नाम—संनी (बर्मा०), सापी उतन (मलाया)

ब्रह्मदेश का वन्य वृषभ गौर की अपेक्षा छोटे आकार का होता है किन्तु उसका शरीर पुष्ट होता है। कंधे के निकट उसकी ऊँचाई

५ फुट ६ इंच या उससे अधिक ही होती है। औसत रूप में सींग २४ इञ्च लम्बी होती है। उसकी मुटाई १४ इञ्च होती है तथा फैलाव ३० इञ्च तक होता है। युवा नर तथा मादा में गोली सींग होती है। मादा में सींग सीधी उठी होती है और सपाट होती है। उसकी मुटाई बहुत कम होती है।

बर्मा के वन्य वृषभ या जंगली साँड़ के पैर भारत के जंगली साँड़ या गौर की अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं। पृष्ठीय ककुद् भी गौण होता है। गौर की भाँति उन्नतोदर भाल तथा नासिका के उभाड़ का अभाव होता है। इसकी सींगें एक रोमहीन शृंगीय पदार्थ से सम्बद्ध होती हैं जो निचली तह की अस्थि के समान ही कठोर होता है। मादा तथा युवा नर का रंग चमकीला बादामी होता है। मुख श्वेत होता है। घुटने से नीचे के पैर श्वेत होते हैं तथा नितंब पर प्रमुख रूप का एक श्वेत धब्बा होता है। गौर या भारतीय वन्य वृषभ में यह धब्बा नहीं पाया जाता, अतएव यह चिह्न दोनों की पहचान के लिए प्रमुख है। युवा नरों में कभी-कभी पार्श्व भाग में श्वेत धब्बे होते हैं जो कालान्तर में जुट जाते हैं तथा मटमैले धूसर बन जाते है। वयस्क जन्तु का रंग पीलापन युक्त (पीताभ) भूरा होता है किन्तु कभी-कभी पार्श्व भाग में मटमैले धूसर धब्बे होते हैं। वृद्ध वृषभों में मुख के थूथन तक रङ्ग मटमैला श्वेत या धूसर-सा होता है। शरीर का रंग पूर्णतः धूसर या खाकी हो सकता है। कभी-कभी गहरा भूरा या बिल्कुल काला भी हो सकता है।

ब्राह्म वन्य वृषभ का प्रसार क्षेत्र बर्मा, थाईलैंड (श्याम) मलाया प्रायद्वीप, बोर्नियो और जावा है। कहा जाता है कि मणिपुर (मनीपुर) में इस जाति का वन्य वृषभ पाया जाता है।

चमरपुच्छी वृषभ (याक)

स्था० नाम—याक, बुबुल सुरा गाय, डोंग, ब्रोंग डोंग (तिब्बत), बन चँवर, चँवरी गाय (हि०)

याक या चँवरी गाय शब्द एक जाति का बोध कराता है। चमरी या चमरपुच्छी वृषभ कहने से भी हमें भ्रम नहीं होना
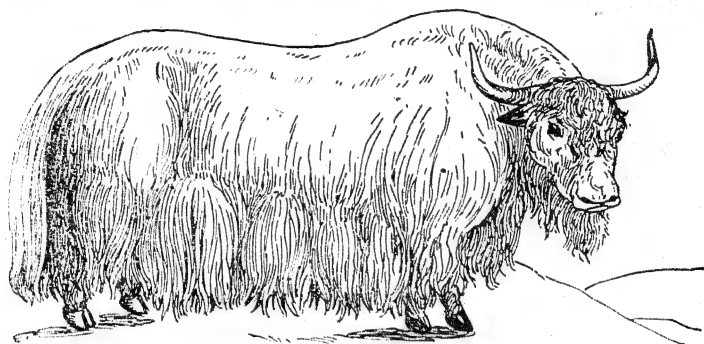
चमरपुच्छी वृषभ

चाहिये। सभी जाति में नर और मादा दोनों होते हैं। चँवरी गाय या नील गाय आदि शब्द अपनी जाति का बोध कराते हैं। इसलिए नर चँवरी गाय तथा मादा चँवरी गाय कहना पड़ सकता है। उसकी जगह याक या केवल चमरी कहना विशेष सुविधाजनक है। नर युवा याक की ऊँचाई कंधे के निकट साढ़े पाँच फुट होती है किन्तु ६ फुट भी हो सकती है। शरीर का तोल १५ मन हो सकता है। सींग २५-३० इंच लम्बी होती है।

याक या चमरी विशालकाय पशु है। उसका सिर नीचे झुका होता है। कंधे पर उच्च मांसल ककुद होता है। पीठ सीधी होती

है। पैर ठिगने तथा बलिष्ठ होते हैं। इसके पार्श्वों से मोटे बालों की झबरी झालर लटकी रहती है। वे झालरें वक्ष, स्कंध तथा पूँछ के निम्न अर्द्ध भाग पर आच्छादित रहती हैं। इसकी सींगों के मध्य वे एक रोमीय गुच्छ बनाती हैं तथा गर्दन पर एक विशाल केशर (रोम-माला या अयाल) बनाती हैं।

लम्बे बालों के नीचे एक बालों की आंतरिक घनी तह भी होती है जो याक को अतिरिक्त उष्णता प्रदान करती हैं। वसंत काल में आंतरिक रोमराशि झड़ जाती है किन्तु झड़कर भी गट्ठों रूप में लम्बोतरे बालों से लटकी पड़ी रहती है। नवजात शिशु में दो-तीन मास की आयु तक लम्बे बालों की झालरें उत्पन्न नहीं होतीं। वन्य याक या चमरी का रङ्ग सर्वांग कलौंछ (कृष्णाभ) भूरा होता है। थूथन के पास थोड़ा श्वेत रङ्ग होता है। पालतू याक की अपेक्षा वन्य याक की सींगें अधिक विशाल होती हैं। घरेलू या पालतू याक में वक्ष तथा पूँछ पर श्वेत धब्बे होते हैं। वन्य याक में यह चितकबरापन कभी नहीं पाया जाता किन्तु पालतू याक पूर्णतः काले भी होते हैं।

वन्य याक का प्रसार-क्षेत्र उत्तरी लद्दाख, तिब्बत की अधित्यका, तथा चीन के कंसू प्रान्त का कुछ भाग है। सतलज की घाटी तथा पूर्वी कमायूँ के दर्रों में भी कभी-कभी आ जाता है।

वन्य महिष

पर्याय० नाम—अर्ना या अर्नी (मादा), अर्ना भैंसा, जंगली भैंसा (हि०) मुंग (भागलपुर), गेरा एरुमी (गोंड), कार्बौ (मलाया), मूंडिंग (संडा प्रणाली)

अर्ना या वन्य महिष का शरीर कंधे के निकट ५½ फुट ऊँचा होता है किन्तु ६½ फुट ऊँचा भी हो सकता है। शरीर का तोल

२५ मन या उससे भी अधिक होता है। सींग की लम्बाई लगभग ७८ इञ्च तक देखी गई है।

वन्य महिष का आकार कुछ अधिक भीषण ज्ञात हो सकता है परन्तु पालतू भैंसे से रंग रूप भिन्न नहीं होता। वन्य महिष
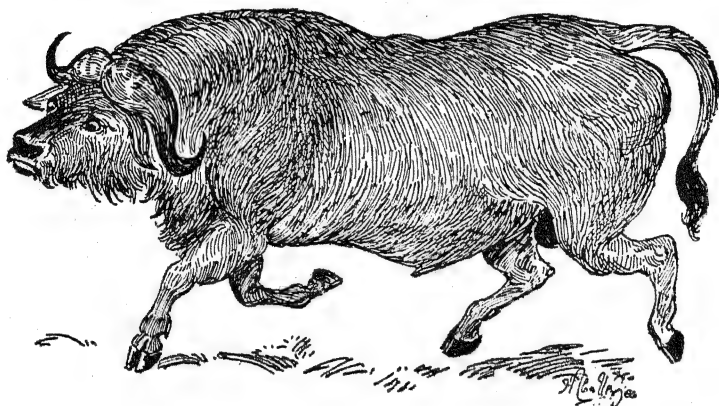
वन्य महिष

स्वभावतः अधिक वृहद् तथा भारी-भरकम शरीर का होता है। पालतू भैंसे की भाँति उसका रंग स्लेटी काला होता है। गुल्फ या घुटने तक पैर का रङ्ग मलीन श्वेत होता है।

शिशु महिष का रंग हल्का, यहाँ तक कि पीला-सा होता है। जंगली भैंसे की सींगें दो प्रकार की हो सकती हैं। एक रूप में तो ऊपर की ओर अर्द्धवृत्त रूप में वक्रित हो सकती है और दोनों शीर्षों की छोर एक दूसरे से थोड़ी दूर ही होती हैं। दूसरे रूप में सींगें बाहर की ओर आड़े ढंग से फैली होती हैं। वे ऊपर की ओर थोड़ी-सी ही तथा भीतरी ओर छोरों पर मुड़ी होती हैं। सींगों का दोनों रूप एक झुंड के ही जङ्गली भैंसों में पाया जा सकता है

किन्तु इनके विभिन्न मिश्रित या विकसित रूप भी हो सकते हैं। सींगें चपटी तथा तिकोनी होती हैं तथा मादा (महिषी या भैंस) में सींग की रूप-विभिन्नता न्यून ही होती है।

वन्य महिष (जङ्गली भैंस तथा भैंसा) का प्रसार क्षेत्र नेपाल की तराई के घास के जंगल, गंगा के मैदान तथा आसाम में ब्रह्म-पुत्र के मैदान हैं। उड़ीसा के कुछ भाग में, मध्यप्रदेश के रायपुर के निकट तथा दक्षिणी पूर्वी मध्यप्रदेश में भी ये पाये जाते हैं।

भैंस की जलप्रिय वृत्ति प्रसिद्ध है। बल्कि जल-प्रेमी न कहकर जलपंक का प्रेमी कहा जाय तो अधिक उचित हो। पानी की आर्द्रता के साथ पंक को भी शरीर में योगियों की विभूति की भाँति लपेट लेना कदाचित उन्हें सुख का अनुभव कराता है। ऐसा वातावरण नेपाल की तराई तथा आसाम में नदियों के कछार में प्राप्त होता है जहाँ वन्य महिष-महिषी दल अर्द्धजलमग्न खड्डों तथा गड्ढों में अपने आहार के लिए नरकुल या जलीय वनस्पति उगे पाता है, निकटवर्ती भूमि में घास चरता है तथा जलपंक भी यमरूप काले-कलूटे शरीर पर प्रलेपित कर साक्षात् यमवाहन बनने का उदाहरण उपस्थित करता है। उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश में इन महिषों का जीवन अपेक्षाकृत सूखे तथा कठोर भूभागों में खड्डों-युक्त विषमतलीय वन्य भूमि में व्यतीत होता है जहाँ घास के मैदान तथा विरल वृक्षों के जङ्गल होते हैं। महिषों के छोटे-छोटे झुण्डों के मिलने से विशाल समुदाय भी बनते हैं। ये प्रातः-सायं घास चरते हैं तथा दिन का उत्तप्त धूप का समय विश्राम करते व्यतीत करते हैं। उनका विश्रामकाल या तो लम्बी घासों के मध्य व्यतीत होता है या नालों तथा गड्ढों के जल तथा पंक में लोट-पोट करते कट जाता है। उनका सारा शरीर जलमग्न-सा रहकर

केवल मुख ही ऊपर रह सकता है। कभी-कभी दिन भर ऐसे रूपों में विश्राम करते रहकर केवल रात में ही वे चरते हैं।

वन्य महिष मनुष्य की बस्तियों के निकट आने में कोई हिचक नहीं अनुभव करता। खेतों में भी घुस आता है। वर्षा ऋतु में खरीफ की फसल के खेतों में वन्य महिषों का दल तो ऐसा जम कर आसन जमा लेता है कि उसे बाहर निकालना कठिन हो जाता है। वन्य महिष भयानक भी होते हैं। मनुष्य पर भी आघात कर बैठते हैं। परन्तु यही नहीं, बाघों से मुठभेड़ करते हैं। अफ्रीका में तो एक महिष तीन सिंहों के साथ सामना करता पाया गया है।

वामन वन्य महिष (अनोवा)

अनोवा सेलेबीज द्वीप का बौना जंगली भैंसा (वामन वन्य महिष) है। कंधे के निकट इसके शरीर की ऊँचाई ४० इंच होती है।
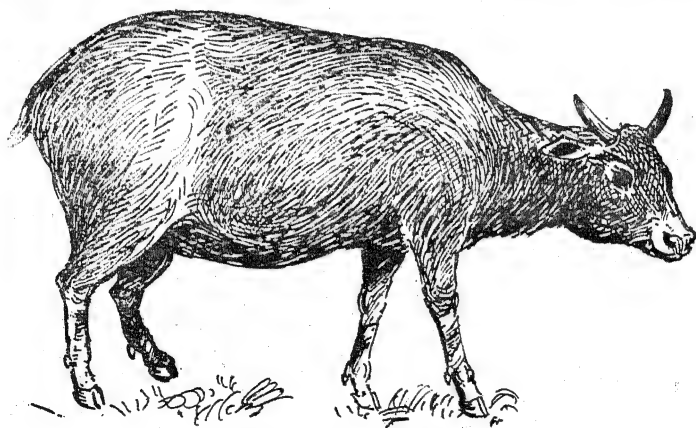
अनोवा (वामन वन्य महिष)

सींगें सीधे कीले समान होती हैं। शरीर का रङ्ग काला या कलौंछ

होता है। मादा का रंग कभी-कभी भूरा होता है। श्वेत धब्बे, विशेषकर निचले जबड़े और गर्दन के निचले भाग पर तथा खुरों के ऊपर होते हैं।

लद्दाखी वन्य मेष (शापू)

स्था० नाम—उरियल (पंजा०), शा, शापू, शामो, मादा (लद्दाख) कोहेदुम्बा (अफगा०)

लद्दाखी जंगली भेड़े (वन्य मेष) की ऊँचाई कंधे के समीप ३ फुट या कुछ अधिक होती है। पंजाब की पहाड़ियों के जंगली भेड़े २ फुट ८ इंच ऊँचे होते हैं। सींग का घेरा जड़ के निकट दस इंच तक होता है। गोलाई को लेकर कुल लम्बाई २० से ३० इंच तक होती है किन्तु ३८ या ३६ इंच सींगों के भी उदाहरण हैं। अफगानिस्तान में तो साढ़े इकतालिस इंच लम्बी सींग का भेड़ा पाया जा सका है।

लद्दाखी वन्य मेष या शापू का आकार वन्य मेषों से छोटा होता है। इसमें गर्दन के ऊपर अयाल नहीं होता, किन्तु वृद्ध शापू में ठुड्डी के दोनों ओर कुर्चनुमा बालों का गुच्छ निकला होता है। ग्रीष्म-ऋतु में लद्दाखी उरियल का रंग रक्तिम भूरा, धूसर या हल्का भूरा होता है। शीतकाल में धूसर तथा भूरे रंग का मिश्रित रूप होता है। पञ्जाब के उरियल का रङ्ग अधिक रक्तिम होता है।

अधिक वृद्ध भेड़े में कूर्च (दाढ़ी) का रङ्ग आगे की ओर धूसर या श्वेत तथा पीछे की ओर काला होता है। ग्रीष्म में दाढ़ी का अधिकांश झड़ जाता है तथा शरीर के बाल छोटे हो जाते हैं। पञ्जाब के उरियल में दाढ़ी अधिक बढ़ी होती है। सींगों में गोल रेखाओं समान उभाड़ बहुत अधिक होते हैं। वे निकट-निकट स्थित होते हैं और एक गोल चक्र रूप में मुड़े होते हैं। लद्दाखी उरियल में छोरों के निकट सींग भीतर की ओर मुड़ी होती है। अफगान

उरियल की सींग बाहर की ओर मुड़ी होकर एक सर्पिल बनाती है। पंचाबी उरियल अपनी सींग की मोड़ से एक वृत्त-सा बनाता है। इन सब में कुछ न कुछ अनेक विभिन्न रूप भी होते हैं।

उरियल का प्रसार-क्षेत्र गिलगिट, लद्दाख होकर पूर्व में उत्तरी तिब्बत तक है। पश्चिम में पंजाब, सिंध, बिलोचिस्तान तथा दक्षिणी ईरान तक है।

उरियल वन्य मेष की यह विशेषता है कि यह विभिन्न ऊँचाइयों पर पाया जा सकता है। तिब्बत में १४००० फुट की अत्यन्त शीत-प्रधान ऊँचाई से लेकर भारत के उष्ण मैदानी भाग तक के विभिन्न जलवायु में रह सकता है। इसके निवास-स्थान भी विभिन्न रूप के हो सकते हैं। लद्दाख की खुली घाटी से लेकर नमक की पहाड़ियों के पहाड़ी ढालों तक इनका निवास पाया जाता है। नमक का प्रेमी होने से यह नमक की पहाड़ियों के निकट पाया जाता है। यह झाड़-झंखाड़ के विरल जंगलों में भी पहुँच जाता है, नंगी पहाड़ियों तथा जङ्गलों के नीचे के घास के मैदानों में भी चला आता है।

उरियल के झुंड तीन से लेकर तीस तक के हो सकते हैं उसमें नर-मादा मिले-जुले से रहते हैं किन्तु ग्रीष्मकाल में नर प्रायः मादाओं से दूर रहते हैं। लद्दाख में उरियल वृक्ष-रेखा के ऊपर अत्यधिक ढालू पहाड़ियों के घास के मैदान में रहता है। अत्यन्त ढालू पर्वतशृंगों पर, जहाँ केवल वन्य छाग ही रहते हैं, उरियल नहीं पहुँचता, परन्तु अत्यधिक ढालू पहाड़ियों का मार्ग भी सहज पार कर लेता है।

ब्लैंफोर्डी वन्य मेष

ब्लैंफोर्डी जङ्गली भेड़ का प्रसार केलात की मध्यवर्ती पहाड़ियों में है। इसकी सींग उरियल (पंजाबी वन्य मेष) की अपेक्षा अधिक

लम्बी तथा पतली होती है। निम्न नासारंध्र के पास माथे का निम्न

ब्लैंफोर्डी वन्य मेष

भाग तथा सारा कपाल, उरियल की अपेक्षा ऊँचा तथा उन्नतोदर होता है। सींगों के मध्य का माथा कम विकसित होता है।

अँगोरा छाग

पालतू बकरियाँ सारे अफ्रिका में भी फैली हैं। अँगोरा नस्ल की बकरी अब दक्षिणी अफ्रिका और आस्ट्रेलिया में पाली जाती है। यह पहले अँगोरा (तुर्की) से लाई गई थी। अफ्रिका में यह बड़ा सफल व्यवसाय है। इन्हें तुर्की से बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया गया क्योंकि इनके स्वामी सर्वोत्तम नस्लें देने को इच्छुक नहीं थे।
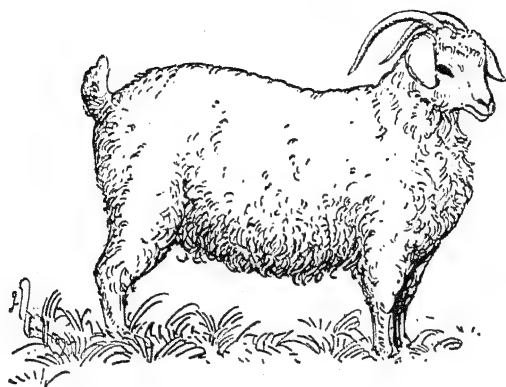
अँगोरा छाग

रोंक रैम

संसार की सबसे लम्बी भेड़ लोंक रैम कही जाती है।

लोंक रैम

तिब्बती महामेष

स्था० नाम—नायाँ, नर, नायाँमों, मादा (लद्दाख), ह्याँ, न्याँग, न्यांद (तिब्बत)

वन्य मेषों में सबसे वृहदाकार तिब्बती महामेष ही होता है। इसकी ऊँचाई कंधे के निकट साढ़े तीन या चार फुट होती है। सींगों की लम्बाई ३६ से ४० इंच तक होती है। किन्तु ५७ इंच तक लम्बी सींग के भी उदाहरण हैं। पामीर का महामेष कुछ छोटा होता है, फिर भी उसकी ऊँचाई ४० इंच तक होती है।

तिब्बती वृहद् भेड़ों (महामेष) का रूप हिरण सदृश होता है। पैर लम्बे होते हैं जो भव्य और हल्के भी होते हैं। सींग एक चक्र से अधिक कभी भी मुड़ी नहीं होती। अन्य भेड़ों में कई चक्रों के मोड़ युक्त सींगें हो सकती हैं। नर महामेष का रंग हल्का भूरा होता है, कंधे के निकट गहरा रङ्ग होता है। कटिप्रदेश, पूँछ के चारों ओर की चकत्ती, कंठ, वक्ष, उदर तथा पैर के भीतरी भाग का रङ्ग श्वेत होता है। वृद्ध नर महामेषे में ठुड्डी में श्वेत कुर्च (दाढ़ी) निकला होता है, परन्तु उसका अधिकांश ग्रीष्म में झड़ जाता है। मादा में अयाल नहीं होता। अधोतल कम उजला होता है तथा पुच्छीय चकत्ती भी अस्पष्ट होती है। मादा की सींग २ फुट तक लम्बी होती है किन्तु साधारणतया डेढ़ फुट लम्बी ही होती है।

महामेषों का प्रसार-क्षेत्र मध्य तथा उत्तरी एशिया में बुखारा से पश्चिमी कैमचटका तक है किन्तु तिब्बती महामेष का प्रसार क्षेत्र तिब्बत अधित्यका में उत्तरी लद्दाख से पूर्व की ओर सिक्किम के उत्तर तक है। चारे की खोज में वे सतलज की सहायक नदी 'स्पिति' की घाटी, नेपाल तथा कमायूँ तक आ जाते हैं। सिक्किम की उत्तरी सीमा तक भी पहुँचते हैं।

पामीर (मार्कोपोलो) वन्य मेष

स्था० नाम—गुइजा, नर, अरकर मादा (पूर्वी तुर्किस्तान)

मार्कोपोलो वन्य मेष या पामीर वन्य मेष कोई स्वतंत्र जाति नहीं है, बल्कि तिब्बती महामेष की दूसरी उपजाति है। इसके नर की ऊँचाई कंधे के निकट ४४ इञ्च होती है। शरीर का तौल पौने चार मन होता है। मादा एक-तिहाई छोटी होती है। सींग की औसत लम्बाई ५२ इञ्च होती है तथा जड़ के निकट घेरा १५ इंच होता है किन्तु ७५ इंच लम्बी सींग का भी उदाहरण है।

तिब्बती महामेष या नायाँ भेड़ की भाँति इसके पैर लम्बोतरे, तथा शरीर भव्य और हल्का होता है। इसकी सींग में रेखा रूप गहरे उभाड़ों की बहुलता होती है। उसमें पूर्ण वृत्त समान मोड़ होता है उसके बाद फिर वह बाहर की ओर मुड़ी होती है। शीत-काल में भेड़े का सिर, पैर तथा उदर का रंग हल्के पीलापनयुक्त श्वेत होता है, पार्श्व भाग धूसर होते हैं जिनका रङ्ग धीरे-धीरे पीठ के गहरे भूरे रंग में मिल गया होता है। इस भेड़ का रंग नंगे शिला-खण्डों की भाँति होता है जो इसके निवास-स्थान की भूमि में फैले पड़े होते हैं। इस कारण लुका-छिपी में उसके शरीर का रंग विशेष सहायक होता है। केवल चलने-फिरने पर ही उसकी उपस्थिति दूर से ज्ञात हो सकती है। ग्रीष्म-ऋतु में इसके शरीर के बाल छोटे तथा धूमिल रङ्ग के हो जाते हैं। शिशु का रंग सर्वांग रूप से गहरा धूसर होता है।

नील (भराल) मेष

स्था० नाम—भराल, भरार, भरमत (हि०), नापू, ना, स्ना (तिब्बत लद्दाख) नरवती (नेपाल) नाव, कूनाव (भोट०)

भराल या नीले भेड़े की ऊँचाई कंधे के निकट ३ फुट होती

है। शरीर का तौल डेढ़-दो मन तक होता है। सींग की औसत लम्बाई २ फुट होती है। ग्यांची से सवा तैंतीस इंच लम्बी सींग प्राप्त हो सकी है। पूँछ की लम्बाई भेड़े में सात इञ्च होती है। कूर्च (दाढ़ी) या अयाल नहीं होता। मादा छोटी होती है। शरीर का रंग स्पष्ट धूसर होता है। शीतकाल में नीलापन युक्त तथा ग्रीष्म में भूरापन युक्त रङ्ग प्रदर्शित होता है। उदर तथा पिछाड़ी का रंग श्वेत होता है। पैर भी श्वेत होते हैं, किन्तु सामने की ओर काले धब्बे होते हैं। पूँछ की छोर भी काली होती है। इसकी सींगें गोली तथा चिकनी होती हैं, तथा मुड़ कर गर्दन के ऊपर पहुँची होती हैं। मुख पर की ग्रंथि का अभाव होता है। उसकी जगह एक नग्न रूप की त्वचा लिए होती है। भराल बकरे और भेड़े के बीच का जन्तु प्रतीत होता है किन्तु नर भराल में कूर्च नहीं होता और न बकरे की वह तीव्र दुर्गन्धि ही होती है। कुछ जानवरों के पैर में खुरों के मध्य ग्रंथि होती है। बकरे बकरी (छाग) में पिछले पैर के खुर में ऐसी ग्रंथि का अभाव होता है, केवल अगले पैर के खुरों में ग्रंथियाँ होती हैं, परन्तु भराल के चारों पैरों के खुरों में ये ग्रंथियाँ विद्यमान होती हैं। वृद्ध नर भराल में मुख तथा वक्ष का रंग काला होता है। प्रत्येक पार्श्व के मध्य तथा पैरों के सामने काली पट्टी होती है। मादा में ये काली पट्टियाँ नहीं होतीं। वयस्क भराल में सींगें छोरों पर पीछे मुड़ी होती हैं।

भराल या नील मेष का क्षेत्र मुख्यत: तिब्बत है परन्तु सिक्किम, लद्दाख तथा नेपाल में भी पाया जाता है।

चापशृंगी या काश्मीर छाग

स्था० नाम--स्किन या साकिन, नर, डबमो या डनमो, मादा, (लद्दाख) कैल (काश्मीर), टंगरोल (कुल्लू)

काश्मीर छाग या कैल की ऊँचाई कंधे के निकट ४० इंच होती

है। मादा छोटी होती है। नर छाग की सींग मेहराब रूप में ४० या ४५ इंच लम्बी होती है। चीन में ५८ इंच (त्यानशान) तथा काश्मीर में ५५ इंच (गिलगिट) लम्बी सींग के भी नमूने मिले हैं। एक नर का तोल ढाई मन होता है।

काश्मीर छाग पुष्ट गठीले शरीर का जन्तु है। बकरे का बाल मोटा तथा कठोर होता है। ठुड्डी में दाढ़ी होती है। इसका रंग विभिन्न होता है। साधारणतया शीतकाल में बालों का रंग पीला-

चापशृंगी छाग

पन युक्त श्वेत होता है जिसमें कुछ न कुछ भूरे तथा धूसर रंगों की पुट होती है। ग्रीष्मकाल में साधारण रंग गहरा भूरा होता है तथा उसमें अनियमित श्वेत धब्बे होते हैं। जिन पर्वतीय स्थलों में काश्मीर छाग रहता है उनकी भीषण शीत से बचने के लिए उसके

शरीर में ऊनी रोम की तह बालों के नीचे ही उगी होती है। मादा का रंग पीलापन युक्त भूरा होता है जिससे उसका रूप हीन-सा जान पड़ता है। नर की हँसियानुमा सींग दीर्घाकार तथा चपटी होती है। उसमें सामने की ओर प्रमुख रूप से रेखीय उभाड़ें होती हैं। चीन (त्यानशान) के छाग की सींग बड़ी होती है परन्तु काश्मीरी छाग की सींग अपेक्षाकृत छोटी होती है। उसका रंग भी चीनी छाग की अपेक्षा अधिक धूमिल तथा अधिक भूरा कहा जाता है।

चापशृंगी छाग का प्रसारक्षेत्र मध्य एशिया में अल्टाई से लेकर हिमालय तक, अफगानिस्तान से कमायूँ तक की पर्वत मालाएँ हैं। पश्चिमी हिमालय में मुख्य पर्वतमाला के दोनों ओर तथा काश्मीर से परे की पर्वतमालाओं में पाया जाता है। पूर्व में सतलज के ऊपरी स्रोतों तक पाया जाता है। उससे अधिक पूर्व नहीं रहता।

सिंध वन्य छाग

स्था० नाम—पसंग, नर, बोज़, मादा या बोज पसंग (फारसी०), बोर्ज (अफगान) सैर, सारह, पशीन, पचीन, बोर्ज कुही, नर, (बलूच), टेर, सारा (सिंधी)

वन्य या पारसीक छाग अपने वंशज अनेक पालतू छागों की भाँति ही होता है किन्तु मादा में कूर्च (दाढ़ी) का अभाव होता है। किन्तु पालतू मादा छाग या बकरी में साधारणतः छोटी पतली कूर्च (दाढ़ी) होती है। नर का कूर्च पूर्ण होता है किन्तु केवल हनु प्रदेश में ही सीमित रहता है। शीतकाल में गर्दन के ऊपर अयाल भी निकल आता है। वयस्क वन्य नर छाग की ऊँचाई कंधे के निकट ३७ इंच होती है। मादा छोटी होती है। सींगों की लम्बाई मोड़ों

युक्त ४० इंच होती है । साठ इंच मोटी तथा साढ़े बावन इंच लम्बी सींग का भी नमूना पाया जा सका है। इसका बाल शीतकाल में भूरा-सा होता है परन्तु ग्रीष्म में घना तथा पीलापन-सा या रक्तिम भूरा होता है। अधोतल के बाल श्वेत होते हैं। वृद्ध नरों का रंग अपेक्षाकृत हल्का होता है। वयस्क नर छागों में पिछले सिर से लेकर पूँछ तक एक गहरे रंग की पट्टी बनी होती है। प्रत्येक कंधे की ओर एक आड़ी पट्टी भी नीचे जाती है। मुख, ठुड्डी, तथा उसमें निकली कूर्च (जो केवल नर में ही होती है), कंठ, पूँछ, घुटने को छोड़ कर पैर के अगले भाग तथा पार्श्व भाग के किनारे-किनारे बनी एक पट्टी का रंग गहरा भूरा होता है। नर की सींग धनु या हँसियानुमा और लम्बी होती है। वह बड़े भव्य रूप में पीछे की ओर मुड़ी होती है। काश्मीर छाग में तो सींग चपटी तथा व्यवस्थित आड़े रेखा-अर्बुदों युक्त होती है किन्तु सिंध वन्य छाग की सींग आगे की ओर दबी बनकर दांतेदार पतली धन्नी-सी होती है। मादा की सींग बहुत छोटी, सीधे खड़ी तथा थोड़ी-सी पीछे झुकी होती है। लम्बाई में पसलीनुमा उभाड़ युक्त भी होती हैं।

सिंध या पारसीक वन्य छाग का प्रसार-क्षेत्र दक्षिण-पश्चिम एशिया में काकेशस से सिंध तक की पहाड़ियों तथा पहाड़ों में है। पश्चिम सिंध तथा बिलोचिस्तान की भी पहाड़ियों तक ही इसके प्रसार-क्षेत्र की पूर्वी सीमा है। इसके पूर्व नहीं पाया जाता। भारत में इसकी निकटवर्ती दूसरी जाति मारखोर होती है।

सर्पिलश्रृंगी छाग (मारखोर)

पर्याय० नाम—मारखोर (अफगान, काश्मीर), राचे, राफोचे (लद्दाख) पचिन, सारा, नर, बुजकुही, मादा (बलूच)

सर्पिलश्रृंगी या मारखोर नाम का छाग विभिन्न रूप-रंग का

पाया जाता है। इसकी विशेष पहचान नर में सर्पिलनुमा मुद्रिका या लहराते रेखा-अर्बुदों (स्क्रू) युक्त सींग का होता है। वृद्ध नरों की ऊँचाई कंधे के निकट ३८ से ४१ इंच तक होती है। इसकी सींग पीर-पंजाल में ६५ इंच, सुलेमान पहाड़ में साढ़े अड़तालिस इंच तथा हिन्दुकुश में लगभग ४० इंच लम्बी पाई जा सकी है। मादा
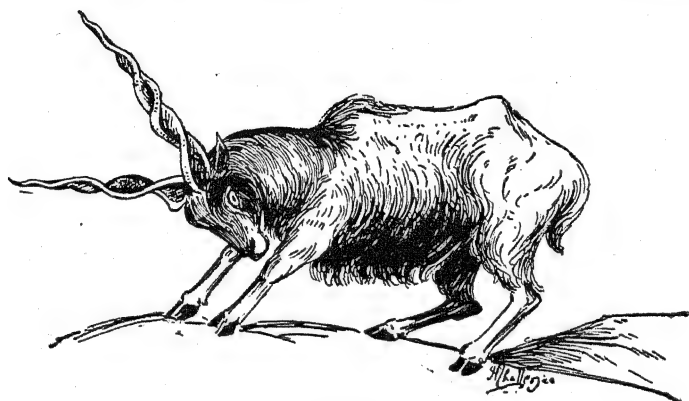
मारखोर

की ठुड्डी में दाढ़ी होती है जो अन्य किसी भी वन्य छाग की मादा में नहीं पाई जाती। इसके शरीर पर अंतर्तलीय कोमल रोम नहीं होते। बालों का रंग ग्रीष्म में भूरा तथा शीतकाल में धूसर होता है। वृद्ध नरों के तो ग्रीष्म में श्वेत बाल हो जाते हैं। ठुड्डी पर प्रचुर दाढ़ी होती ही है। किन्तु गर्दन तथा वक्षस्थल भी झबराले होते हैं। दाढ़ी का अग्रभाग काला होता है तथा पूँछ और पैर के निचले भाग के सामने के अंश गहरे रंग के होते हैं। शिशुओं का रंग धूमिल भूरा होता है तथा पृष्ठवंश के तल पर एक गहरे रंग की रेखा होती है। वृद्ध मारखोर की दीर्घकाय सींगें, लहराती हुई दाढ़ी,

गर्दन तथा कंधे से लम्बोतरे तथा घुटनों तक लटके अयाल उसका अत्यन्त भव्य रूप प्रदर्शित करते हैं। अल्पवयों में वैसी भड़कीली दाढ़ी नहीं होती। सींगों के मरोड़ या चक्करदार रेखानुमा उभाड़ों के विभिन्न रूप होते हैं जो विभिन्न स्थानों की उपजातियों में ही नहीं पाये जाते, बल्कि उनका अनेक मिश्रित रूप भी स्थान-स्थान पर मिलता है किन्तु जाति एक ही है।

मारखोर या सर्पिलश्रृंगी छाग (बकरा-बकरी) का प्रसार-क्षेत्र हिमालय में काश्मीर की घाटी के पश्चिम की ओर तथा हिन्दुकुश पर्वत में है।

हिमालय छाग (ताहर)

पर्याय० नाम—तेहर. जेहर (शिमला), झारल (नेपा०) कास, जागला (काश्मीर), कार्ट (कुल्लू), एस्ब (नर) एस्बी (मादा) (पंजाब)

नर ताहर या हिमालय छाग की ऊँचाई कंधे के निकट एक गज या कुछ अधिक होती है। शरीर का तोल ढाई मन होता है। सींगें १२ से १५ इंच तक लम्बी होती हैं किन्तु १६ इञ्च लम्बी तथा १० इञ्च मोटी सींग के भी उदाहरण हैं। मादा का शरीर छोटा होता है। सींग १० इञ्च से अधिक लम्बी नहीं होती।

हिमालय छाग सुन्दर मुख, पतले खड़े कान, भारी-भरकम शरीर तथा पुष्ट लम्बे पैरों का जन्तु है। सिर तथा मुख पर बाल छोटे होते हैं। मोटे लहराते बालों से शरीर आच्छादित रहता है। गर्दन तथा कन्धे पर अयाल रूप में बाल बढ़े होते हैं जो घुटने तक लटके होते हैं। साधारणतया शरीर का रङ्ग गहरा रक्तिम भूरा होता है। पृष्ठ में मध्यवर्ती रेखा होती हैं जो सदा स्पष्ट नहीं होती। वृद्ध नर में पीठ तथा पैरों का रङ्ग विशेष गहरा होता है। मादा तथा

युवा का रंग धूमिल भूरा होता है। शिशु और भी धूमिल होते हैं। सींगें छोटी तथा निकट स्थित होती हैं, वे मूलभाग में पुष्ट, सामने की ओर चपटी तथा रेखा-अर्बुदों युक्त होती है। छोरों पर रेखा-अर्बुद नहीं होते। वे पीछे की ओर मुड़ी होती है। वृद्ध नरों में नीचे बढ़ी होती हैं।

हिमालय छाग का प्रसार-क्षेत्र हिमालय में पीर-पञ्जाल से लेकर सिक्किम तक है।

नीलगिरि छाग

पर्याय—बड़ा आड् या बड्डी आट् (तामि०) कर्ड अर्ड् (कन्न०) मुल्ला आट् (मलया०)

नीलगिरि छाग का आकार हिमालय छाग से कुछ बड़ा होता है। कंधे के निकट उसकी ऊँचाई ३९ से ४२ इञ्च तक होती है। मादा एक गज ऊँची ही होती है। नर की सींग साढ़े सत्रह इञ्च लम्बी तथा लगभग १० इञ्च मोटी पाई जा सकी है। यथार्थ में नीलगिरि छाग की धड़ छोटी होती है, परन्तु पैर लम्बे होते हैं। बाल छोटे और मोटे होते हैं। नर में भी बालों की अधिक बाढ़ नहीं होती, केवल गर्दन के उभाड़ तथा कंधे पर छोटा अयाल होता है। रंग गहरा भूरा होता है। वृद्ध नर में अधिक से अधिक भूरा होता है। पीठ के बीच कुछ उजलापन होता है। मादा तथा शिशु कुछ धूसर होते हैं। सींग हिमालय छाग-सी होती है, परन्तु चपटी होने के स्थान पर उन्नतोदर होती है और कुछ लम्बी होती है।

नीलगिरि छाग सबसे ऊँचा आकार रखने वाला होने पर छाग जातियों में अपना रूप भड़कीला नहीं प्रकट करता। न तो दाढ़ी होती है और न हिमालय छाग की तरह लम्बे अयाल होते हैं।

नीलगिरि छाग का प्रसारक्षेत्र दक्षिण भारत की नीलगिरि,

अन्नामलै तथा पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ हैं। यह सदा ४००० से ६००० फुट की ऊँचाई पर ही रहता है। किन्तु नीचे भी आकर घास उगे ढालों, खड्डों आदि में चरता है। दोपहर को चट्टानों के चपटे कगारों पर विश्राम करता है। उत्तरी या हिमालय छाग की मादा में जहाँ चार स्तन होते हैं, वहाँ नीलगिरि मादा छाग में दो ही स्तन पाये जाते हैं। वर्ष के किसी भी मास में दो बच्चे उत्पन्न होते हैं।

शंकुश्रृंगी वन्य छाग

पर्याय० नाम—सेराव या सेरोवा (पहाड़ी), ऐमू (पंजाब), रामू, हल्ज, सालाभीर (काश्मीर) शानली (बर्मा चीन सीमा)

रामू या शंकुश्रृंगी वन्य छाग के वृद्ध नर की ऊँचाई कंधे के निकट ३६ से ४२ इञ्च तक होती है। शरीर का भार ढाई मन होता है। सींग ६-१० इञ्च लम्बी तथा ५-६ इञ्च मोटी होती है।

रामू या सेराव का सिर विशाल, कर्ण गर्दन तुल्य, गर्दन मोटी तथा पैर छोटे होते हैं। इस प्रकार इसका बेडौल रूप ही होता है। इसका बाल मोटा होता है। नीचे स्थलों में रहने वाले सेराव में कुछ पतला होता है। रङ्ग विभिन्न होते हैं। मटमैले काले या कलोंछ खाकी से लेकर लाल तक रङ्ग हो सकता है। गहरे रंग के सेराव में सिर, गर्दन, अयाल का रंग मटमैला काला होता है। कंधे पर वह मटमैले लाल रूप में परिवर्तित हो जाता है। पार्श्वभाग निम्न जंघे का रङ्ग भी मटमैला लाल होता है। पैरों के भीतरी भाग और उदर पर मटमैला खाकी रङ्ग होता है। थूथन, गले तथा छाती पर विभिन्न मात्रा का श्वेत रंग होता है। हिमालय के सेराव में पैरों का ऊपरी भाग बादामी और निचला भाग मटमैला श्वेत होता है। मलाया के सेराव के पैर पूर्ण काले होते हैं।

सेराव में नर और मादा दोनों में सींगें होती है। सींगें काली, शंकुवत् तथा घने रेखा-अर्बुदों युक्त होती हैं। ऊपर का एक-चौथाई भाग रेखा-अर्बुद रहित होता है।

सेराव का प्रसार-क्षेत्र हिमालय में काश्मीर से आसाम तक है। पूर्व में बर्मा, थाईलैंड, मलाया, सुमात्रा तक भी पाया जाता है।

क्षुद्रशृंगी छाग

पर्याय० नाम—गोरल (पहाड़ी), पीजूर (काश्मीर), रीन या रोम (काश्मीर), साह या सर्र (पंजाब) राजीयू (भूट०) मूगिगं (लेपचा) देव चागल (आसाम)

गोरल की ऊँचाई कंधे के निकट २६-२८ इञ्च होती है। शरीर का तोल लगभग ३०-३१ सेर तक होता है।

गोरल का आकार ठिंगना और छागनुमा होता है। बाल मोटे होते हैं। शरीर का रंग धूमिल भूरी बकरी-सा होता है। कंठ श्वेत होता है। पृष्ठवंश तथा पैरों पर मटमैले रङ्ग की पट्टियाँ होती हैं। पूँछ भी काली होती है। नर में सींग प्रायः समानान्तर और ६ इञ्च लम्बी होती हैं। लगभग १० इञ्च लम्बी सींग के भी उदाहरण हैं। मादा की सींग लगभग ८ इञ्च तक लम्बी होती है। मुख पर ग्रंथि नहीं होती। बाल मोटे होते हैं।

गोरल की तीन विभिन्न जातियाँ पाई जाती हैं। धूसर हिमालय गोरल का रङ्ग पीलापन युक्त धूसर होता है, जिसमें कालेपन की पुट होती है। इसका प्रसारक्षेत्र पश्चिमी हिमालय से लेकर पूर्वी हिमालय तक है। दूसरी जाति भूरा-गोरल भी है जो पूर्वी हिमालय से आसाम तक पाई जाती है। उसका रङ्ग सुनहला या लाल मिश्रित भूरा होता है जिसमें काले धब्बे होते हैं। तीसरी जाति ब्रह्म-

देशीय है। पश्चिमी हिमालय या धूसर गोरल और पूर्वी हिमालय या भूरे गोरल से ब्राह्म गोरल की दो मुख्य विशेषताएँ होती हैं। एक तो पूँछ लम्बी होती है। युवा गोरल में पूँछ की लम्बाई ५ इञ्च होती है। दूसरे अगले पैर पर की काली पट्टी घुटने के ऊपर नहीं पहुँची होती बल्कि बगल से होकर नीचे जाती है, परन्तु दोनों हिमालय गोरलों में वह पट्टी घुटने के ऊपर से जाती है। ब्राह्म-गोरल का प्रसारक्षेत्र ऊपरी आसाम से लेकर सेचुआन (चीन) तक है। धूसर गोरल के विभिन्न रङ्ग होते हैं, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि उसके शरीर के धूमिल क्षेत्र में लाल मिश्रित भूरे या भूरे रङ्ग की पुट हो। ठुड्डी, ऊपरी होठ, जबड़े का आंतरिक तल, तथा कण्ठ का धब्बा श्वेत होता है। पृष्ठवंश पर पट्टी होती भी है तो कंधे तक ही, परन्तु भूरे गोरल में वह पट्टी पूँछ तक बनी होती है।

उन्नतोदर-मुखी छाग (टार्खीं)

पर्याय नाम—टार्खीं, टाखों।

टार्खीं या तिब्बती छाग की ऊँचाई कन्धे के निकट साढ़े तीन फुट होती है। यह भारी-भरकम, भद्दे आकार का जन्तु होता है। पूँछ बड़ी छोटी होती है। पैर ठिंगने और मोटे होते हैं। पिछले खुर असाधारणतः बड़े होते हैं। सिर तो बड़ा होता है और गर्दन छोटी होती है। अतएव यह देखने में बैल तथा बकरी के मध्य का जन्तु जान पड़ता है। इसकी सींग मोटी, निकट-निकट ऊपर उठी होती है तथा थोड़ी दूर तक अचानक बाहर की ओर मुड़ गई होती हैं। फिर वैसी ही तीव्रता से शेष लम्बाई में पीछे की ओर मुड़ी होती हैं। नर की सींग २ फुट लम्बी होती है। किन्तु मादा की सींग इसकी आधी लम्बी ही होती है। बाल लम्बे तथा मोटे होते हैं।

उनका रङ्ग स्थान-स्थान के भेद से कुछ विभिन्न होता है। पैर प्राय: काले होते हैं। रक्तिम भूरी धड़ में कालापन का भी मेल होता है। एक ऐसा भव्य छाग-हरिण भी होता है जिसका रङ्ग सर्वांग स्वर्णिम होता है।

टाखीं या तिब्बती छाग का प्रसार-क्षेत्र पूर्वी तिब्बत तथा मिशमी पहाड़ी है। कदाचित तीन पृथक्-पृथक् जातियाँ या उपजातियाँ होती हैं। मिशमी जाति मिशमी पहाड़ी, भूटान के हिमालय तथा सालविन इरावदी की मध्यवर्ती अधित्यका में पाई जाती है। तिब्बती टाखीं पूर्वी तिब्बत तथा पश्चिमी सेचुआन (चीन) में में पाया जाता है। स्वर्णिम टाखीं शेंशी (चीन) में पाया जाता है।

टाखीं में याक या चँवरी गाय की तरह थूथन में केवल छोर का भाग नग्न होता है। शेष पर बाल उगे होते हैं। इसका कारण यह है कि ऊँचाई पर रहने वाले जन्तुओं को शीतकाल में जमे हिमस्तर को मुख से हटाकर नीचे दबी वनस्पति आहार के लिए प्राप्त करना पड़ता है। टाखीं की सबसे अधिक विचित्रता उसके मुख का अत्यधिक उन्नतोदर रूप है। भारी मुख तथा मोटी गर्दन होती है। पैर बीसन के पैरों से भी अधिक मोटे होते हैं।

भारतीय क्षुद्र हरिण (चिंकारा)

पर्याय नाम--चिंकारा, वालपुंच (हि०) कालसीपी (मरा०) हिरनी (पंजाब), टिस्का, बुजरी मुडारी (कन्न०) बरूदूजिंका (तेल०)

चिंकारा हरिण छोटी बकरी के आकार का जन्तु है। नर चिंकारा की कंधे के निकट २ फुट ऊँचाई होती है। शरीर का तोल २०-२५ सेर होता है। मादा २० सेर तोल की ही होती है। चिंकारा का शरीर ऊपरी तल पर हल्का बादामी होता है। पार्श्व तथा नितंब के श्वेत रङ्ग से संधि के स्थल पर ऊपरी तल वाला रङ्ग गहरा

हो गया होता है। तिब्बतीय हिरन में पूँछ के चारों ओर श्वेत चकत्ती होती है। वह भारतीय हिरन में नहीं पाई जाती। मुख के दोनों ओर नीचे तक श्वेत रेखा होती है तथा नासिका के ऊपर एक मटमैला धब्बा होता है। भारतीय गज़ेली या चिंकारा की यह स्पष्ट
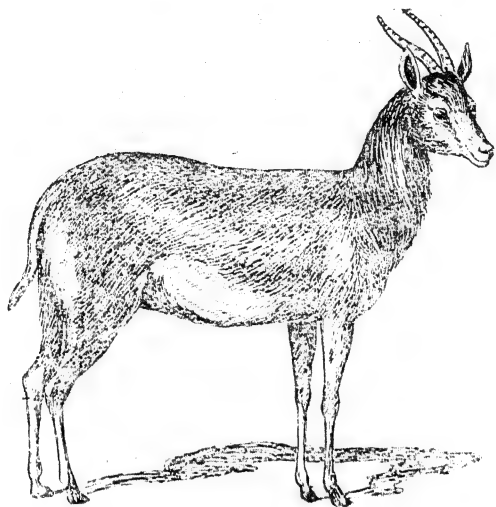
भारतीय क्षुद्र हरिण

पहचान है। सामने से देखने पर सींग सीधी खड़ी ज्ञात होती है। घुटने पर बालों का गुच्छ होता है। बकरी या जंगली भेड़ की अपेक्षा पूँछ लम्बी होती है। उसकी लम्बाई ८ इञ्च होती है। नर की सींग कुछ वक्रित होती है। पहले कुछ आगे की ओर झुककर पीछे झुकती है तथा सिरे पर फिर आगे की ओर झुकी होती है। उसमें एक या दो दर्जन ऐंठन सदृश मुद्रिका बनी होती हैं। सींग की लंबाई प्रायः एक फुट होती है। दक्षिण भारत में १०-१२ इञ्च से कदाचित ही लम्बी होती हो। मादा की सींग प्रायः सीधी और

चिकनी होती है। उसकी लम्बाई ८ इञ्च होती है। शृंगहीन मादा भी पाई जाती है।

चिंकारा या भारतीय गजेली का प्रसारक्षेत्र उत्तर-पश्चिम तथा मध्यवर्ती भारत के मैदान तथा नीची पहाड़ियाँ से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी के कुछ दक्षिण तक के मैदान हैं। पश्चिम में फारस की खाड़ी तक पाया जाता है। पश्चिमी घाट तथा कोंकन में नहीं पाया जाता।

चिंकारा का वासस्थान नाले तथा खड्डों से भरी ऊँची-नीची भूमि है जिसमें झाड़ियाँ तथा विरल जंगल हो। मरुभूमि के पहाड़ी खण्डों में ये पाये जाते हैं। पश्चिमी पाकिस्तान में नमक की पहाड़ियों के क्षेत्र में भी पाये जाते हैं। ये जानवर लज्जालु हैं और बस्तियों तथा खेतों के निकट अधिक नहीं आते। दिन को तो विश्राम कर व्यतीत कर देते हैं, परन्तु चौथे पहर चारा की खोज में निकलते हैं। संकट का संदेह होने पर सारा झुण्ड भाग चलता है और दो-तीन सौ गज दूर जाकर ठहर जाता है। उस समय वह संकट के रूप पर ध्यान देता है। इनमें दृष्टि, श्रवण तथा घ्राण तीनों शक्तियाँ समान रूप से विकसित होती हैं।

चिंकारा का आहार घास-पात, अन्नों की फसल तथा फल हैं। फलों में छोटा गोल कद्दू तथा तरबूज इसके आहार बनते हैं। ये बिना पानी पिये अधिक समय तक रह सकने में समर्थ होते हैं। मरुस्थलों में बिना पानी के भी जीवन यापन कर लेते हैं। जो कुछ आर्द्रता आवश्यक होती है वह घास-पात तथा ओस से ही प्राप्त कर लेते हैं किन्तु पानी प्राप्त होने पर, विशेषतया ग्रीष्मकाल में, पीते अवश्य हैं।

चिंकारा छोटे झुण्डों में रहता है। १०-२० के झुंड पाये जाते

हैं। सन्तानोत्पादन का कोई निर्धारित समय नहीं होता। एक या दो शिशु एक बार में उत्पन्न होते हैं।

एण (काला हरिण)

पर्याय० नाम—मृग हि ण, िरन-हिरनी, कालवित, गोरिया (मादा) काला (त) (तिहुद), का ासर, नर, बाबठी, मादा (बिहार), बुरेटा (भागलपुर), बरौट, सासिन (नेपा०) फं ायत, हीरू, बनुनी हीरू (मरा०) िगरी (कन्न०) इर्री, नर, सेडी, मादा, जिन्का (तेल०)

एण या कृष्ण हिरण की ऊँचाई कंधे के निकट ३२ इञ्च होती है। पूँछ छोटी, केवल सात इञ्च की होती है। मादा प्रायः शृंग-
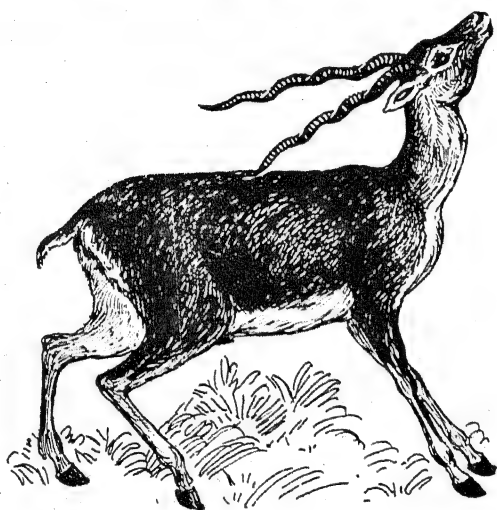
ृ ा ा क रिण

हीन और छोटी होती है। एण का तोल एक मन से कुछ अधिक होता है। सींग १६ से २० इञ्च तक लम्बी होती है। नर की सींग

अत्यधिक लहरियादार तथा गाँठों या अँगूठियों युक्त होती है। उसके मरोड़ों की संख्या तथा रूप विभिन्न होते हैं। सीधे रूप में नापने पर सींग की लम्बाई दो फुट से कम ही लम्बी होती है किन्तु २८ इञ्च तक लंबी सींग के उदाहरण पाये जाते हैं। यदि मादा में सींगें होती हैं तो उनकी सींगें चिकनी तथा पीछे की ओर झुकी होती हैं किन्तु ऐसी मादा बहुत कम होती हैं। एण के बाल घने तथा छोटे होते हैं। वृद्ध एण नर का रङ्ग कृष्ण वर्ण होता है। अधोतल, नेत्र की मुद्रिका तथा थूथन का रङ्ग श्वेत होता है तथा गर्दन का पिछला भाग धूमिल भूरा होता है।

अल्पवय नर एण मादा की भाँति पीलापन युक्त धूमिल भूरे रङ्ग का होता है। तीन वर्ष की आयु होने पर रङ्ग बदलने लगता है और काला होने लगता है। बालों का रङ्ग गहरा होने लगता है। दक्षिण भारत में युवा एण कदाचित् ही काले रङ्ग का होता है। उसका रङ्ग गहरा भूरा ही रहता है। विशेष वयप्राप्त एण नर देश भर के भागों में भूरे रङ्ग के दिखाई पड़ सकते हैं। साधारणतया ग्रीष्म-ऋतु में उनके रङ्ग में फीकापन आ जाता है और वर्षा के बाद उनमें मखमली चमक आ जाती है।

अल्पवय एण नर में सींगों में लहरियापन नहीं होता। द्वितीय वर्ष एक बड़ी सर्पिल (या कुंडलीनुमा ऐंठन) उत्पन्न होती है। यह माना जाता है कि सर्पिलों की पूर्ण मात्रा कृष्ण रंग प्रचुर होने के साथ ही तृतीय वर्ष में उत्पन्न होती है।

एण का प्रसार-क्षेत्र भारत भर में हैं। हिमालय की पर्वतमाला में चढ़ा नहीं पाया जाता। गंगा के डेल्टा तथा सूरत के दक्षिण मालावार तट पर भी नहीं पाया जाता। उत्तर पश्चिम तथा दक्षिण में प्रचुर रूप में प्रसारित मिलता है। यह जंगल तथा पहाड़ी भूभागों से दूर ही रहता है।

एण का गर्भाधान काल सभी ऋतु है। परन्तु विशेषतया फरवरी मार्च है। उस समय नर एक दूसरे से संघर्ष कर मादा पर अधिकार प्राप्त करते हैं। इनमें बहुपत्नीवाद की रीति प्रचलित है। एक वयप्राप्त नर एण मादा के दल का स्वामी बना रहता है। दस से पचास तक मादा एण दल में हो सकती हैं। उनमें कुछ युवा नर भी दलपति नर की अनुकम्पा से रह सकते हैं। सहस्र एणों के दल भी पाये जाते हैं जिसमें नर मादा, अल्पवय तथा वयस्क सभी सम्मिलित रह सकते हैं। खेतों से दूर रहने की प्रवृत्ति एण में नहीं पाई जाती। किन्तु वे घने घास-पात, या झाड़-झंखाड़ या जंगल की आड़ नहीं खोजते। खुले घास के मैदानों में ही रहते हैं। पहाड़ों तथा जलमग्न भूमि भी नहीं ढूँढ़ते। घास का ही आहार करते हैं और घास का मैदान ही इनका वासस्थान है।

एण में श्रवण शक्ति साधारण ही होती है, परन्तु गति तथा दृष्टि शक्ति तीव्र होती है तथा रक्षा का मुख्य साधन है। घ्राण शक्ति भी यथेष्ट होती है। ये दोपहर तक घास चरते रहते हैं। कड़ी धूप में विश्राम कर पुनः अपराह्न में चरने में संलग्न हो जाते हैं।

एक या दो शिशु एक बार में उत्पन्न होते हैं। मादा उन्हें कहीं घास में छिपा रखती है, परन्तु शीघ्र ही वे बल प्राप्त कर उछलने-कूदने योग्य हो जाते हैं।

चतुःशृंगी हरिण

पर्याय० नाम—चौसिंघा, चौका, भेड़की. बकरा, जंगली बकरा, डोड, (हि०), भीरकुरा, नर, भीर, मादा (गोंड), भीरूल (भील०) कोंडगुरी (कन्न), कोंडा गोरी (तेल०),

चतुःशृंगी या चौसिंघा चार सींगों का एक छोटा-सा जानवर है। नर चौसिंघे की ऊँचाई २ फुट १ इञ्च होती है। इसका थूथन

पतला होता है। नर में चार या दो सींगें होती हैं किन्तु मादा शृंगहीन ही होती है। नर चौसिंघे की सींगें सीधी होती हैं। उनमें बड़ी तो सींग के ठीक स्थान पर हो होती है परन्तु छोटी सींग नेत्रों के मध्य होती है। उसका विकास विभिन्न रूप का हो सकता है। बड़ी सींग की लम्बाई साढ़े चार इञ्च तक होती है। किन्तु साधारण-तया ३ इञ्च ही होती है। छोटी या सम्मुखीय शृंग की लंबाई ढाई इञ्च तक होती है परन्तु साधारणतया १ इञ्च लम्बी ही होती है। एक चौसिंघे में अगली सींग ३ इञ्च लंबी तथा पिछली सवा-सात इञ्च लम्बी पाई गई थी। पूर्ण युवा चौसिंघे में दक्षिण भारत में सम्मुखीय या क्षुद्र शृंग का अभाव हो सकता है। द्वितीय वर्ष में वृहद् या पिछले शृंग यथेष्ट विकसित हो गये होते हैं। इसकी पूँछ ५ इञ्च लंबी होती है, बाल छोटे और मोटे होते हैं। उनका रङ्ग हल्का भूरा होता है। पैरों के नीचे गहरे रङ्ग की पट्टियाँ होती हैं। किन्तु रंग के चटकीलेपन में विभिन्नता होती है।

चौसिंघे का प्रसार क्षेत्र गंगा के मैदान तथा मलावार तट के मद्रास प्रदेश के भाग को छोड़कर शेष भारत में हैं। यह झाड़ियों तथा विरल जंगल का वासी है। यह एकाकी या अधिक से अधिक जोड़े रूप में पाया जाता है। यह बड़ा लज्जालु होता है। जंगल में स्वाभाविक स्थान में भी इसे देखना कठिन होता है। यह बाँस के जंगलों में अधिक रहता है। वर्षाकाल में गर्भाधान होने के पश्चात् वर्ष के प्रारंभ में एक या दो सन्तान उत्पन्न होती हैं। छः मास गर्भधारण काल होता है।

ऋष्य (नीलगाय)

पर्याय० नाम—नीलगौ, नीलगाय, लीलगौ, लीलगाय, रोजरा या रोझ, रूई मादा (हि०) गुराया (गोंड), मारवी, (कन्न), चनुपोट् (तेल०)

नील गाय या ऋष्य नर की ऊँचाई साधारणतः साढ़े चार फुट

तक होती है किन्तु ५८ इञ्च तक ऊँचाई के भी उदाहरण है। मादा कुछ छोटी होती है। सींग ८ इञ्च लंबी होती है किन्तु लगभग १ फुट लंबी सींग के भी उदाहरण मिलते हैं। इसे एक बेडौल घोड़ा का रूप प्राप्त होता है जिसका शरीर पीछे के भाग (कटि-प्रदेश) की अपेक्षा आगे की ओर (स्कन्ध-प्रदेश) ऊँचा होता है। गाय नाम से इसे पुकारना किसी कारणवश हो सकता है, परन्तु इस नाम से इसकी जाति का बोध ही होना चाहिये जिसमें नर और मादा दोनों हों। ऋष्य शब्द प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त हैं। लौकिक नाम रोझ भी है किन्तु नीलगाय बहुत अधिक प्रचलित नाम है।

नीलगाय (ऋष्य) की दुम गुच्छीय होती है और घुटने तक पहुँचती है। युवा नर के बाल मोटे तथा लौह समान धूसर होते हैं।
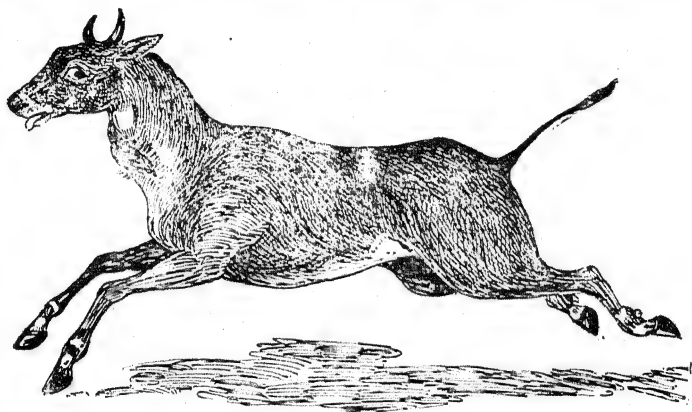
ऋष्य (नीलगाय)

उसे ही नील रङ्ग भी कहते हैं। प्रत्येक गुल्फ में श्वेत मुद्रिका से धब्बे होते हैं। प्रत्येक कपोल पर दो श्वेत धब्बे होते हैं। गर्दन पर शूकरवत क्षुद्र अयाल होता है तथा नर के कंठ में एक बालों का गुच्छ

होता है। क्षुद्र मुख-ग्रन्थि होती है। बैल की भाँति आर्द्र थूथन होता है। नर के ओठ, हनु तथा कान के भीतरी तल का रंग श्वेत होता है। कान की कोर काली होती है। सींग प्रायः नर में ही होती है। वह छोटी तथा चिकनी होती है। सिरे पर कुछ आगे की ओर झुकी होती है। मादा तथा अल्पवय ऋष्य का रंग धूमिल बादामी होता है। बधिया किये नर ऋष्य का भी रंग ऐसा ही होता है। इसके विपक्ष सींग युक्त मादा के भी उदाहरण हैं।

ऋष्य या नीलगाय का प्रसारक्षेत्र केवल भारत में ही है। यह हिमालय से लेकर मैसूर तक पाया जाता है। हिमालय पर्वत की ऊँचाई या मैसूर के दक्षिण के भूभाग में नहीं पाया जाता। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर पश्चिम तथा मध्यप्रदेश में अधिक पाया जाता है। आसाम, पूर्वी, पश्चिमी पाकिस्तान तथा मलाबार तट पर नहीं पाया जाता।

नीलगाय खुले मैदान का जन्तु है। झाड़ी तथा विरल वृक्षों के जंगल को पसंद करता है। मध्यप्रदेश में नीची पहाड़ियों तथा खुले मैदान और झाड़ियों में पाया जाता है। यह बेर तथा अन्य वृक्षों के फल तथा पत्तियाँ खाता है। महुआ भी बड़ी रुचि से खाता है कभी-कभी तो आँवला के कसैले फलों को इतना अधिक खा लेता है कि इसका मांस उसके कटु रस से विद्ध हो जाता है। हिन्दू इसे पूज्य मानते हैं और फसलों की भारी हानि होने पर भी बध कराना स्वीकार नहीं करते।

ऋष्य या रोझ दिन को धूप के समय वृक्षों की छाया में विश्राम करता है किन्तु साँभर इतना अधिक रात्रिचारी नहीं होता। प्रायः दिन को भी आहार की खोज में पाया जा सकता है। यह प्रायः एक स्थान पर ही लीद करता है। नीलगाय प्रत्येक दिन पानी नहीं पीता। कई दिन बिना पानी पिये ही रह सकता है। इसका शिकार

करना बड़ा कठिन होता है। यह आशंकित होकर भागता ही रह सकता है। कभी-कभी गोली खाकर नर ऋष्य मुर्दा-सा गिरा जान पड़ता है, परन्तु अकस्मात् उठकर भाग निकलता है। बड़ी कठिनाई से गोली से भी मरता है। धार्मिक भावना को ठेस लगने की बात न हो तो ऋष्य पर सवारी की जा सकती है। यह जंगली वृत्ति का होता है और पालतू बनने पर भी मनुष्य को आहत कर सकता है, परन्तु साधारण सामान लादने योग्य इसे बनाये जाने के उदाहरण हैं। मादा ऋष्य नर की अपेक्षा अधिक तीव्रगामी होती है। आठ या नौ मास के गर्भ-धारण के पश्चात् वह एक या दो शिशु उत्पन्न करती है। बंदी अवस्था में भी सन्तानोत्पादन करती है।

ऋष्य में घ्राण तथा दृष्टि शक्ति यथेष्ट होती है। श्रवण शक्ति साधारण होती है। संकट से बचने का मुख्य साधन तीव्रगति है। इसके झुंड चार से लेकर दस तक के होते हैं। बीस तक भी झुंड बनाये मिल सकते हैं। मादा तथा अल्पवय नर तथा शिशु एक साथ रहते हैं किन्तु वयप्राप्त ऋष्य पृथक् या अपने ही दल बनाये रहते हैं। सन्तानोत्पादन काल प्रत्येक ऋतु है।

गेरेनक (लम्बग्रीव क्षुद्र हरिण)

गेरेनक या लम्बग्रीव क्षुद्र हरिण पूर्वी अफ्रीका का हरिण है। इसका प्रसार क्षेत्र पूर्ण मेडागास्कर तथा पूर्वी अफ्रीका में सुमालीलैंड के दक्षिण टानाघाटी तथा ब्रिटिश पूर्वी अफ्रिका के किलिमंजारो जिले तक है। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता अत्यधिक लंबी गर्दन होती है। केवल नर के ही सींग होती है। सींग की लम्बाई १२ या १३ इञ्च होती है। इसका आकार चिंकारा (छागहरिण) की सींगों समान होता है। परन्तु छोरों पर आगे की ओर बहुत अधिक मुड़ी

होती है। इसके पैर भी बड़े लंबे होते हैं। इसका कपाल छागहरिणों की अपेक्षा अधिक घनी तथा ठोस रचना का होता है। चर्वणक दाँत अपेक्षाकृत छोटे होते हैं।

गेरेनक की सींगों की लम्बाई सत्रह इञ्च तक पाई गई है। इसके

गेरेनक (लंबग्रीव हरिण)

शरीर का ऊपरी तल बादामी, पार्श्वभाग बलुहे भूरे, उदर श्वेत, होते हैं। शरीर की ऊँचाई कंधे के निकट ४१ इञ्च तक होती है। इसका चित्र मिस्र में ईसा पूर्व ५६०० वर्ष का प्राप्त होता है। इसका वैज्ञानिक रूप में सर्वप्रथम वर्णन १८७८ ई० में प्राप्त होता है।

यह तीन से लेकर १० तक के झुण्डों में पाया जाता है। यह शुष्क मैदानों का निवासी है जिसमें घास, तथा झाड़ियाँ आदि उगी हों। खड्डों, खत्तों युक्त पहाड़ी स्थानों में भी पाया जाता है।

एलैंड

एलैंड बड़े से बड़े आकार के हरिणों में हैं। वृषभ की तरह इसमें पैरों के मिथ्या शफ (दिखावटी खुर) असली खुरों से कुछ
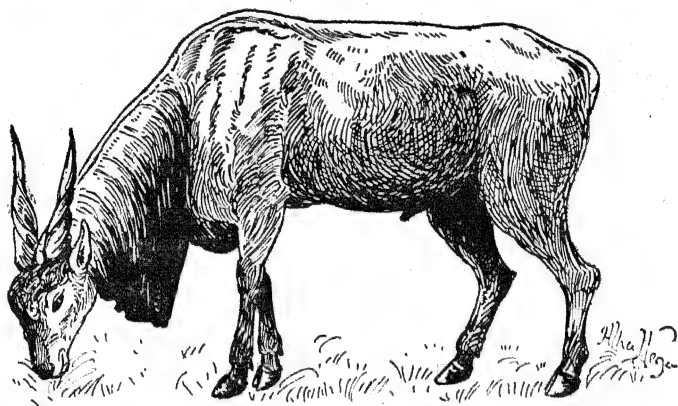
एलैंड

ऊपर होते हैं। पूँछ गुच्छीय होती है। सींग बड़ी होती है। वह सीधी और सर्पिलाकार ऐंठनयुक्त होती है। नर और मादा दोनों में सींगें होती हैं। मादा की सींग कुछ बड़ी होती है किन्तु नर से कुछ पतली होती है। शरीर का रंग हल्का भूरा या पीलापनयुक्त खाकी होता है जिसमें लाल भूरे रंग की पुट होती है। कोई धब्बा या पट्टी नहीं होती। शरीर की लम्बाई ११ फुट होती है जिसमें दो फुट लंबाई पूँछ की ही होती है। कंधे के निकट साढ़े पाँच फुट

ऊँचाई होती है। प्रौढ़ नर ६ फुट तक ऊँचे हो सकते हैं। नर की सींग ३७ इञ्च लंबी और मादा की सींग साढ़े तैंतालिस इञ्च लंबी अधिक से अधिक बड़े आकार की मिली हैं। इसका प्रसार दक्षिणी कालाहारी मरुस्थल से लेकर अंगोला तथा केनिया तक है। यह खुले मैदान में, विशेषकर घास के मैदानों में रहता है। इसकी ५-६ उपजातियाँ पाई जाती हैं। रात को खेतों पर भी धावा करता है।

ब्याटरिक्स (अरबी हरिण)

अरबी हरिण ऐसी जाति के हरिणों में से है जिनकी सींगें सीधी, लम्बी तथा थोड़ी-सी झुकी होती है। नर और मादा दोनों
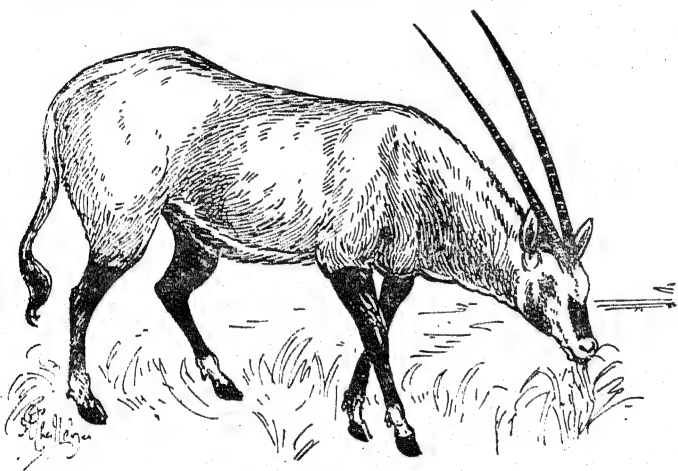
ब्याटरिक्स (अरबी हरिण)

में ही सींगें होती हैं। अरबी हरिण की ऊँचाई कंधे के निकट ३५ इञ्च होती है। शरीर का रंग मटमैला श्वेत होता है। पूँछ गुच्छीय

होती है। सिर तथा पैरों पर कलौंछ भूरे रङ्ग के कुछ धब्बे होते हैं। यह दक्षिणी अरब से मैसोपोटामिया तक पाया जाता है। इसकी समकक्ष अन्य जातियाँ अफ्रिका में सहारा के दक्षिण मैदानों तथा मरुस्थलों में पाई जाती हैं।

सैबुल हरिण

नर हरिण का रंग कलौंछ भूरा या चमकीला काला, सिर के पार्श्व तथा उदर का रंग श्वेत होता है। मादा कुछ भूरी-सी होती
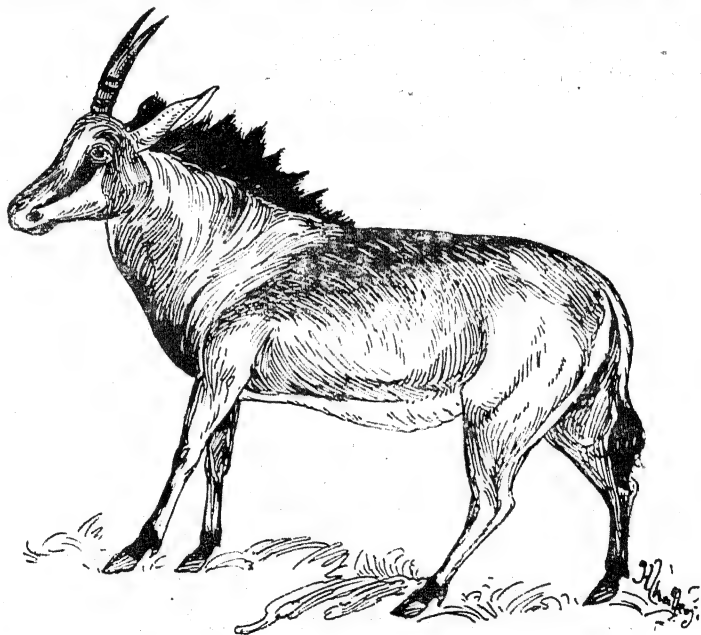
सैबुल हरिण

है। सींग हँसिया-सी होती है। उसकी अधिक से अधिक लंबाई

६४$\frac{3}{4}$ इंच प्राप्त हो सकी है। इसका प्रसार उत्तरी-पश्चिमी ट्रांसवाल से केनिया और अंगोला तक है। यह पहाड़ी घास के स्थान में अधिक रहता है जहाँ वृक्ष विरल हों। वर्षा में नीचे के जंगलों में उतर आता है।

कुडू

अफ्रिका के हरिणों में कुडू सबसे सुन्दर होता है। कार्क खोलने के सर्पिलाकार तार या स्क्रू की तरह नर कुडू की सींग होती है। अफ्रिका में सहारा के दक्षिण इसकी दो जातियाँ पाई जाती हैं जिन्हें दीर्घ कुडू या क्षुद्र कुडू कहते हैं। यह बड़े आकार के हरिण
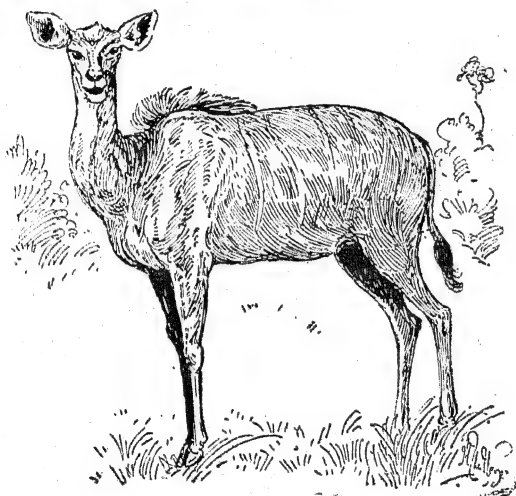
मादा कुडू

होते हैं जिनके मादा के सींग नहीं होती। पीठ पर चिकने बाल होते हैं तथा चौड़ाई की दिशा में पट्टियाँ होती हैं। दीर्घ कुडू हरिण-वंश

का सुन्दरतम प्रतीक होता है। वयस्क नर की ऊँचाई कंधे के निकट ४ फुट ६ इंच होती है। इससे कुछ अधिक भी हो सकती है। इस जाति का रंग हल्के भूरे से लेकर गहरे धूसर तक होता है। मादा या अल्पवयों की अपेक्षा वृद्ध नरों का रंग अधिक गहरा होता है क्योंकि उनमें बालों की विरलता नीचे की त्वचा का गहरा रंग प्रकट करती है। शरीर के प्रत्येक पार्श्व तथा पिछले पैरों में अनेक श्वेत पट्टियाँ होती हैं जिनकी संख्या ४ से लेकर ८ या ६ तक होती है। अन्य हरिणों की भाँति इसके कपोल पर भी दो या तीन श्वेत धब्बे होते हैं। नाक के आर-पार नेत्र के नीचे एक तीरनुमा श्वेत चिन्ह होता है। नर में गर्दन के पिछले भाग में थोड़ा अयाल (केशरी) होता है। कंठ से वक्ष तक श्वेत कलौंछ भूरे रंग के मिले-जुले लंबे बालों की झालर (चमर) होती है। कान बड़े लंबे तथा गोल होते हैं। नर की सींग ४८ इंच ऊँची होती है किन्तु सवा इक्यावन इंच ऊँचाई की सीमा भी पाई जा सकती है। ठीक ऊँचाई न नाप कर मोड़ोंयुक्त पूरी लम्बाई तो ६४ इंच से भी अधिक होती है।

दीर्घ कुडू झाड़ियों का प्रेमी जन्तु है। यह हरियालीयुक्त पहाड़ी स्थानों में अधिक रहता है किन्तु मैदानी भाग में बहने वाली नदियों के निकट वृक्ष-वनस्पति आच्छादित भूमि में भी रहता है। इसका प्रसार-क्षेत्र उत्तमाशा अंतरीप से लेकर पूर्वी अफ्रिका होकर अबी-सीनिया तथा सुमालीलैंड तक है। क्षुद्र या लघुतर कुडू की ऊँचाई कंधे के निकट केवल ४० इञ्च है। इसके वक्षस्थल पर दो श्वेत धब्बे होते हैं जहाँ पर लम्बे बालों का अभाव होता है किन्तु दीर्घ कुडू में वक्ष पर लंबे बाल होते हैं। लघुतर कुडू की सींग २७ इञ्च ऊँची पाई जाती है। इसका प्रसार-क्षेत्र पूर्वी अफ्रिका में अबी-सीनिया और सुमालीलैंड से टंगानीका की रिफ्टवैली तक है।

लघुतर कुडू का रंग दीर्घ कुडू समान ही होता है। किन्तु आकार अधिक छोटा होता है। इसमें दीर्घ कुडू की भाँति कंठ में बालों की लंबी चँवर नहीं होती। शरीर पर की श्वेत पट्टियाँ अधिक संख्या में ११ से १४ तक होती हैं।

दीर्घ कुडू पारिवारिक या छोटे झुण्डों में रहता है। २० या ३० से अधिक का झुण्ड नहीं होता। 'यह बड़ा ही दब्बू जानवर है। यदि इस पर कुत्तों का आक्रमण हो तो यह अपनी सींगों द्वारा या दुलत्ती मार कर रक्षा करने का तनिक भी प्रयास नहीं करता।

लघुतर कुडू सतर्क तथा चौकन्ना रहता है। घनी झाड़ियों के मैदान में रहने का अभ्यस्त है। जोड़े या छोटे पारिवारिक झुण्डों में रहता है। भारी झुण्डों में कभी नहीं पाया जाता। यह घास चर कर रहता है। रात्रिचारी वृत्ति रखता है। दिन का समय किसी घनी झाड़ी में सोकर व्यतीत करता है।

नू (महिषाश्व) हरिण

नू एक बेहूदे रूप का जन्तु है जिसका मुख भैंसे समान होता है। शरीर घोड़े समान होता है तथा झबरी पूँछ होती है। नर और मादा दोनों में ही सींग होती है। सींग आधारतल में मोटी होकर कुछ नीचे और आगे की ओर मुड़ती है। पुनः पीछे की ओर तथा ऊपर की ओर मुड़ती है। इसका सिर वृहदाकार होता है। थूथन चौड़ा होता है। बालों से आच्छादित नासिका होती है। गर्दन पर अयाल (केशरी या लंबे बालों का चमर) होता है। कुछ लोग इन्हें जंगली ढोर कहते हैं। इसकी दो जातियाँ होती हैं: (१) श्वेत-पुच्छीय, (२) पट्टित।

श्वेतपुच्छीय महिषाश्व का पहले बहुसंख्यक रूप में प्रसार था, किन्तु कालान्तर में इनकी संखया कुछ सौ हो रह गई।

नू (महिषाश्व हरिण)

पट्टित महिषाश्व अपेक्षाकृत बड़ा होता है। कंधे के निकट साढ़े चार फुट या उससे भी अधिक ऊँचा होता है।

महिषाश्व हरिण या नू दक्षिणी और पूर्वी अफ्रिका में घास के मैदानों में रहते हैं। अत्यन्त दक्षिण अफ्रिका में इनका लोप हो चुका है।

वाटर बक (जलप्रिय हरिण)

वाटर बक पुष्ट तथा मोटे आकार का जन्तु है। इसकी ऊँचाई कंधे के निकट ४५ से ५० इञ्च तक होती है। इसके नर और मादा दोनों में ही सारे शरीर पर और विशेषकर गर्दन पर लम्बे, मोटे बाल उगे होते हैं। केवल नर में सींगें होती हैं। सींगों की लंबाई २० से ३६ इञ्च तक होती है। वे सामने की ओर तीन-चौथाई भाग तक बहुत अधिक रेखामुद्रिकाओं युक्त होती हैं। वे पहले पीछे की

ओर मुड़ कर छोरों के निकट आगे की ओर मुड़ी होती हैं। ये हरिण दस से लेकर बीस तक के झुण्डों में रहते हैं। एक झुण्ड में पूर्ण वयस्क नर प्रायः अत्यधिक ढालू पहाड़ियों में मिलते हैं और नदी से एक मील से कुछ अधिक दूरी पर के क्षेत्र में रहते हैं। इन्हें

वाटर बक (जल हरिण)

जलखंड के निकट की भूमि का निवासी पाया जाता है, परन्तु जलमग्न या दलदली स्थानों की अपेक्षा सूखी भूमि अधिक पसंद करता है। कुत्तों द्वारा पीछा किये जाने पर पानी में प्रवेश कर जाता है। पानी के विशाल, गहरे भंडार में उसे घड़ियालों का

शिकार भले ही हो जाना पड़े, परन्तु वह कुत्तों से पीछा छुड़ाने के लिए पानी में अवश्य कूद पड़ता है। इनका रंग लाल मिश्रित भूरे से लेकर गहरे धूसर तक विभिन्न रूप का होता है।

साधारण वाटर बक का रंग मुख्यतः धूसर होता है। एक अंडाकार (दीर्घवृत्तीय) श्वेत अँगूठी का चिन्ह कटि प्रदेश पर होता है। पूँछ लम्बी तथा छोरों पर बालों के गुच्छ युक्त होती हैं। साढ़े छत्तीस इञ्च तक लम्बी सींग नर में पाई जा सकी है। पुर्तगाली पूर्वी अफ्रिका से सुमालीलैंड तक इसकी कई उपजातियाँ पाई जाती हैं।

सिंगसिंग वाटर बक डेफेस्सा जाति के वाटर बक की उपजाति है। इनके कटि प्रदेश पर श्वेत मुद्रिका की जगह श्वेत धब्बा होता है। शरीर का रंग लाल भूरे से लेकर भस्मीय भूरे तथा काले के मिश्रण तक होता है।

साधारण वाटर बक का प्रसार-क्षेत्र दक्षिण अफ्रिका के लिम्पोपो से लेकर पूर्वी अफ्रिका होते हुए सुमालीलैंड में शेबेली नदी तक है। डेफेस्सा वाटर बक का प्रसार-क्षेत्र पूर्वी अफ्रिका में जेम्बजी नदी से उत्तर सुमालीलैंड तक है।

श्रृंगपाती (मृग) वंश

मृग या श्रृंगपाती वंश जिन जातियों का नाम दिया जाता है वे आकार-प्रकार में प्राय: वृषभवंशियों की भाँति होते हैं। मृग शब्द के प्रयोग से यहाँ तनिक भी भ्रम न होना चाहिये। हम यहाँ पर पहले इस बात को ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं। प्राचीनों ने इन सम्बन्धों की कुल जातियों के जो नाम दिये हैं वे इस प्रकार हैं :— (१) हरिण, (२) एण, (३) कुरंग, (४) ऋष्य, (५) पृषत, (६) न्यंकु, (७) शम्बर, (८) राजीव, और (९) मुंडी। इन नामों में हम प्रथम चार नामों को वृषभ वंशी जन्तु अनुमान करते हैं। साधारण बोली में तो अनेक प्रकार के पशुओं को हरिण नाम से ही पुकारा जाता है। किन्तु उस शब्द को वैज्ञानिक विभाजन में केवल स्थिर-श्रृंगी जन्तुओं के समान हिरनों का ही बोध कराने के लिए प्रयोग किया गया है। इनमें एण शब्द तो स्पष्ट रूप से कृष्ण हरिण का द्योतक है। किन्तु कुरंग को उसी की ही दक्षिण भारतीय उपजाति समझा जा सकता है क्योंकि कृष्ण हरिण का रंग उत्तर भारत में जन्म से तीन वर्ष तक ललाई युक्त भूरा होता है। तीसरे वर्ष ही वह काला हो जाता है। दक्षिण भारत में प्रौढ़ एण को भी प्राय: कलौंछ भूरे रंग का ही देखा जाता है। यथेष्ट प्रौढ़ एण भी सारे भारत में कलौंछ भूरे रंग के पाये जा सकते हैं। इस कारण कुरंग की निम्न व्याख्या भाव प्रकाश में पाकर उसे एण की उपजाति ही मानना समीचीन ज्ञात होता है।

"कुरंग ईषत्ताम्र स्यादेणतुल्याकृति महान्"

अर्थात् किंचित ताम्र (मटमैला लाल) वर्ण का तथा एण समान बड़ी आकृति का पशु कुरंग होता है।

"हरिणस्ताम्रवर्णः" के संक्षिप्त वर्णन से कुछ स्पष्ट नहीं होता किन्तु भाष्यकार उसे उदर पर श्वेत रंग वाला पशु कहते हैं। शरीर का रंग ताँबे का (मटमैला लाल या भूरा) कहा गया है। अतएव चिंकारा (भारतीय क्षुद्र हरिण) को इस संज्ञा का पशु कहना उचित है। नीलांगक ऋष्य तो नीलगाय है ही।

अन्य नामों में राजीव नाम तो अफ्रिका की जेब्रा जाति के पशु का स्पष्ट ज्ञात होता है जो जन्तुशालाओं में होने या किसी प्रकार इस देश में आने से लोगों को ज्ञात हो सका होगा परन्तु वह तो गधों की श्रेणी का जन्तु है। घोड़े या गधे की तरह उसके पैर एक खुर (शफ) वाले ही होते हैं। परन्तु वैज्ञानिक विभाजन न होने से वह इन पशुओं के साथ गिना गया है जिनको समशफीय या जोड़े रूप के खुरों वाला कहा जाता है।

शेष नामों का विवरण निम्न प्रकार कहा जा सकता है :—

(५) पृषत (स्पाटेड डियर) चित्तल या बिंदुकित मृग

(६) न्यंकु (स्वाम्प डियर) बारहसिंगा

(७) शंबर (सांभर),

(८) मुंडी (मस्क डियर) कस्तूरी मृग।

ये सब नाम जिन पशुओं को दिये गये हैं उन्हें शृङ्गपाती या मृग वंशीय कहना उचित है। अंतिम नाम अवश्य अपवाद है जो सर्वथा शृंगहीन होता है किन्तु शरीर की रचना में अन्य बातों में मृगों से साम्य रखने के कारण ही उस जाति को इस वंश में रक्खा गया है। राजीव की एक विशेष विवेचना के लिए हमारा ध्यान मूषक मृग की ओर जाता है जिसके शरीर का रङ्ग तो जैतूनी भूरा

होता है, परन्तु उस पर आड़े रूप में दोनों बगल श्वेत धब्बों की पंक्तियाँ लंबोतरी होने तथा लगभग परस्पर संयुक्त-सी होने से आड़ी पट्टियाँ बनाती है। यदि इसी को राजीव कहना चाहें तो कोई भारी आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु यह पशु भी मृगों से दूर एक विलक्षण श्रेणी का है जिसके पैर में चार-चार पादांगुलियाँ (शफ) होती हैं और शृङ्गहीन भी होता है। अतएव उसे एक पृथक् वंश में ही रखा जाता है। शरीर की ऊँचाई १०, १२ इञ्च तक ही होती है। यह मृग नाम से पुकारे जाने पर भ्रांति ही उत्पन्न कर सकता है फिर भी कुछ नाम देना ही पड़ता है।

इन प्राचीन विभाजनों द्वारा जातियों के नामकरण में हमें आज जो अव्यवस्था दिखाई पड़ती है उसका कारण यह है कि आज का वैज्ञानिक प्रत्येक क्षेत्र में कुछ निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर युक्तिसंगत तथा वैज्ञानिक रूप में प्रगति करता है। पुरानी जातियाँ या श्रेणी प्रकट करनेवाले नाम आज के वैज्ञानिक शोध की कसौटी पर टिक सकने वाले न होने का कारण यह है कि पहले लोगों में वैज्ञानिक ढंग से छानबीन कर जाति, वंश आदि निर्णय करने वृत्ति नहीं थी। आज भी शिक्षित समुदाय तक में वैज्ञानिकता की भावना उत्पन्न करने के लिए यथेष्ट पर्यवेक्षण तथा मनन का हमारे देश में अभाव ही है। एक बहुत ही उच्चवर्ग के एक विद्वान की बात हमें याद आती है जिन्होंने नीलगाय के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा भावना के प्रति उपहास करते हुए कुछ तर्क दिये। उनका कथन था कि नीलगाय को अन्ध-विश्वासी लोग गाय समझने की भारी भूल करते हैं किन्तु यह स्पष्ट देखा जाता है कि वे गोबर के स्थान पर गधों और घोड़ों की तरह लीद विसर्जित करते हैं। धार्मिक या अन्धविश्वास की बात सर्वथा दूर रख कर हम वैज्ञानिक विभाजन द्वारा नीलगाय को केवल लीद करने के कारण गधों या

घोड़ों का निकटवर्ती कभी भी नहीं कह सकते। यह तो लीद करने पर भी दो खुरों का पशु है, जुगाली करता है। नर में स्थिर रूप की खोखली सींग होती है। अन्य कई लक्षणों से भी यह वृषभ-वंशी है।

इस उदाहरण के विपरीत हम अपनी भ्रान्त धारणा का कुछ नमूना हरिणों और मृगों के सम्बन्ध में भी पाते हैं। हमें साहित्यिक वर्णनों, साधारण लेखों, वार्तालापों आदि में हरिण और मृग में कोई विशेष भेद का कभी अनुमान भी नहीं होता। ये शुद्ध पर्याय-वाची शब्द हैं। बल्कि यहाँ हम यह भी कहना चाहते हैं कि मृग शब्द का शुद्ध अर्थ (मृ—जंगल + ग—गमन करने वाला) जङ्गल का रहने वाला जन्तु है। इस व्यापक अर्थ में मृग शब्द द्वारा हम साधारण किसी भी जङ्गली जानवर को प्रकट करते देखेंगे। परन्तु यह केवल शब्द का अर्थ रह गया है। वास्तव में मृग हिरणों या उनके समान पशुओं के लिए ही द्योतक रह गया है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से हम इसे और भी अधिक संकुचित अर्थ में करना चाहते हैं जो उन हिरणों से सर्वथा पृथक् जन्तुओं का बोध कराता है जो वृषभवंशी नहीं है। प्रत्युत स्वयं कुछ जातियाँ को मिलाकर शृंग-पाती या मृगवंश प्रसिद्ध करते हैं।

मृगवंशी जन्तुओं की कई स्पष्ट पहचाने हैं। प्रत्येक आँख के नीचे कपाल में एक छेद या बड़ी दरार होती है। ऊपरी जबड़े में प्राय: रदनक दाँतों का होना भी एक नियम है। जिन मृगों में सींग नहीं होती हैं, उनमें ये ऊपरी जबड़े के रदनक सदा ही विकसित होते हैं। अतएव उससे उनका वृषभवंश से विभेद स्पष्ट ज्ञात होता है। किसी भी वृषभवंशीय पशु में ऊपरी जबड़े में रदनक नहीं होते। मृगवंशियों में कस्तूरी मृग में ही पित्ताशय होता है। अन्य किसी भी मृग जाति में नहीं होता, परन्तु वृषभवंशी जातियों में तो सबमें

पित्ताशय होता है। वृषभवंशी पशुओं की अपेक्षा मृगवंशी पशुओं में दिखावटी खुर (मिथ्या पाद) जो यथार्थ भूस्पर्शी खुरों से कुछ ऊपर होते हैं, अधिक विकसित होते हैं।

मृगवंशी पशु रोमंथक (जुगाली करने वाले) अवश्य हैं, परन्तु अन्य जुगाली करने वाले पशुओं, वृषभवंशी जन्तुओं से उनका सबसे स्पष्ट भेद यह है कि इनकी सींग ठोस होती है। केवल यह गुण उन्हें वृषभवंशियों से पूर्णतः पृथक् बताने के लिए यथेष्ट है। इन सींगों की रचना ठोस रूप की ही नहीं होती। बल्कि कुछ निश्चित अवधि के पश्चात् ये गिर जातीं और पुनः उत्पन्न होती रहती हैं।

मृग की सींग माथे के ऊपर खड़े स्थायी उभाड़ को आधार बनाकर उत्पन्न होती है। पहले वे मखमली आवरण युक्त अस्थि-दण्ड की भाँति उठती हैं और धीरे-धीरे बड़े होती जाती हैं। उनमें अस्थि की मात्रा वृद्धि पाती जाती है। अल्पवय मृग में पहले एक फांक की ही सींग रहती है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है, एक सींग से अन्य फाँकें फूटती जाती हैं। फाँकों या शाखा बढ़ने का कार्य उस समय ही होता है जब एक बार सींग गिर कर दूसरी बार नई उत्पन्न होने लगी होती है। वार्षिक या अधिक अवधियों के पश्चात् नवीन शृंगों के उत्पादन की कई बार पुनरावृत्ति होने के पश्चात् अन्त में विशेष जाति के मृग की निर्धारित संख्याओं की शाखा से पूर्ण सींग निकलती है। उदाहरणतः शंबर की बात लीजिए। शंबर (सांभर) मृग में पहले वर्ष एक-एक दंड की सींग होती है। इसके गिरने पर दूसर वर्ष जब नवीन सींग निकलती है तो उसके आधार में प्रत्येक सींग के दंड से एक-एक शाखा निकलती है। तीसरे वर्ष के नये शृंग-निर्माण के समय छोरों के निकट अंतिम शाखा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार शृंगों की सब शाखाएँ विभिन्न जातियों में कुछ निश्चित संख्या की शाखाएँ पूर्ण करने में निश्चित

अवधि लगाती हैं। शंबर (सांभर), चित्रक (चीतल) या पृषत्, तथा शूकर मृग में प्रायः तीन फाँकों या शाखाओं की सींग होती है।

शृंगों की शाखा कहने में मूल दंड को भी एक शाखा मान कर गिनती की जाती है। इसे फाँक कहना अधिक उपयुक्त हो सकता है। अतएव शंबर के प्रौढ़ रूप में प्रत्येक सींग में तीन शाखा होने की बात कहने के स्थान पर तीन फाँकों युक्त या तीन शृङ्ग-फंकीय कहना अधिक उपयुक्त हो सकता है। ऐसे रूप में एक सींग में ऊपर की ओर तीन छोर मिलेंगे।

काश्मीर में हंगूल मृग, भारत के न्यंकु या बारहसिंगे तथा भूशृंगी मृग में सींगों की फाँकें बहुसंख्यक होती हैं। इनकी सींग में पहली शाखा तो भौंहों के ऊपर मूल दंड की सींग के आधार से निकली जान पड़ती है। इसे आधारीय शाखा या भूशृंग फंक (प्रथम शृंगफंक) कह सकते हैं। यह अकेली फाँक ही रह जाती है। अन्य फाँकें सींग के मूल दंड के ऊपरी भाग से निकली होती है। इन शृङ्ग-फंकों को भिन्न-भिन्न स्थितियों के अनुसार पृथक्-पृथक् नाम भी दिये जाते हैं। द्वितीय शृङ्गफङ्क, तृतीय शृङ्गफङ्क आदि हम भी सुविधानुसार नाम रख सकते हैं। अंतिम शृङ्गफङ्कों को शीर्षीय शृंगफङ्क कह सकते हैं। हंगूल में प्रायः पाँच शृङ्गफङ्क होते हैं। बारहसिंगा या न्यंकु में तो बीस फाँक (शृंगफङ्क) या अधिक पाये जाते हैं। जब एक बार सींग की फाँकें निर्धारित संख्या की हो जाती हैं, जितनी उस जाति के मृग की होनी चाहिये तो प्रति वर्ष वे गिर कर पुनः उत्पन्न होने पर आकार में वृद्धि करती जाती हैं, परन्तु एक सीमा तक विकास के पश्चात् उनका ह्रास होना प्रारंभ होता है, अतएव अधिक से अधिक वृद्ध बारहसिंगे (न्यंकु) में अधिक से अधिक लम्बी सींग होना अत्यावश्यक नहीं।

शृङ्गपाती पशुओं अर्थात् मृगों के सींग गिर कर बार-बार उत्पन्न होने की क्रिया विज्ञान के लिए एक समस्या है। ये सींगें कैसे उत्पन्न होती हैं, पहले हम इसका अवलोकन कर सकते हैं। उनके माथे पर शृङ्ग के आधार का स्थल शृङ्ग-आधारस्थल कहा जा सकता है। वही केवल स्थायी वस्तु होती है। उसमें खूँटी समान जो अस्थिदंड निकलता है, वह हमें दिखाई नहीं पड़ सकता, उसकी जगह ऊपर की केवल मखमली ओढ़नी दिखाई पड़ती है। यह त्वचा निर्मित आच्छादन होता है जिस पर कोमल सघन रोमों की इतनी अधिक बाढ़ होती है कि मखमल ही ज्ञात होता है। इसके निकलने पर मृग को 'मखमली शृंगीय ओढ़नी' में रहना कह सकते हैं। परन्तु सींग का प्राण इस ऊपरी ओढ़नी में ही प्रारम्भ में रहता है। इस ओढ़नी में रक्त-शिराएँ फैली होती हैं जो उसकी पुष्टि करती हैं, परन्तु यह कोमल वस्तु होती है। शृंग की अस्थीय रचना करने में सहायक तो होती है, परन्तु किसी प्रकार अन्य जन्तु से संघर्ष करना हो या अपनी रक्षा करनी हो तो उस स्थिति में सींगों के उपयोग से मृग को बचते रहना ही पड़ता है, अन्यथा यह कोमल शृंगीय त्वचा-आच्छादन एक ही प्रहार में क्षत-विक्षत हो जाय। अतएव ऐसी स्थिति में लड़ना ही हो सकता है तो मृग अपनी मखमली ओढ़नी युक्त सींग को बचा लेता है और बकरों की भाँति अगले पैरों को उठा कर उनसे ही प्रहार करता है।

जिस प्रकार नवजात शिशु की नाभि से नाड़े का कुछ अंश लगा रहने पर कुछ समय में सूख जाता है और स्वतः गिर पड़ता है, उसी प्रकार मृग की सींग का मखमली आच्छादन अपना कार्य कर चुकने पर मुरझा जाता है। इसके लिए पहले सींग के आधार स्थल के निकट इस मखमली ओढ़नी में एक चूड़ी-सी गाँठ उत्पन्न होती है जो ऊपर के भाग में इस मखमली आच्छादन की शिराओं

में रक्त जाना बन्द कर देती है। इस कारण कुछ समय में इस सघन रोमीय त्वचा-आच्छादन अथवा मखमली ओढ़नी का इस प्रकार लोप प्रारम्भ होता है।

अपनी कोमल मखमली ओढ़नी के अन्दर अस्थि की मात्रा-वृद्धि पाकर अस्थीय शृंग की रचना होने के समय जंगलों के अंदर रहने वाले मृग मैदानों में आ सकते हैं जिससे इन नवज़ात सींगों तथा उनकी रचना में रक्त-प्रसारक और बाहरी आवरण रखने वाली मखमली ओढ़नी कहीं अटक कर क्षत-विक्षत न हो जायँ। वे थोड़ी दूर तक घूम-फिर कर किसी प्रकार उन दिनों चारा खा लिया करते हैं। मखमली आवरण के सूख जाने पर मृग कहीं किसी विशेष वृक्ष के निकट प्रति दिन आकर उससे संघर्षण किया करते हैं। कुछ समय में नग्न अस्थीय शृंग निखर आता है। वह प्रौढ़ रूप प्राप्त कर चुका होता है। अब मृग पूर्ण सशस्त्र हो जाता है। अपनी सींग के मखमली आवरण के छुड़ाने के लिए जहाँ अन्य मृग किसी चिकनी छाल के वृक्ष से काम लेते हैं, वहाँ बारहसिंगा अपनी बहुफंकीय सींग की रक्षा के लिए वृक्ष की सहायता न लेकर घासों द्वारा रगड़ कर ही मखमली ओढ़नी छुड़ा लेता है।

जिस समय मृग की सींग के मखमली आवरण का लोप होकर सींग को प्रौढ़ रूप प्राप्त होता है, वही समय मृगों की जाति में प्राय: गर्भाधान क्रिया प्रारम्भ करने का भी होता है। अतएव नर मृगों में मृगियों के ग्रहण करने के लिए तुमुल युद्ध होता है। युद्ध तो कदाचित् कम ही होता है। परन्तु सींगों की खड़खड़ाहट से आतंक उत्पादक नाद अधिक उत्पन्न होता है। कभी-कभी तो ऐसे संघर्ष में दो नरों की बहुफंकीय सींगें एक दूसरे की सींगों में ऐसी उलझ जाती हैं कि किसी प्रकार छूट नहीं सकती। उस उलझन से छुटकारा न मिले तो पड़े-पड़े रहकर मृत्यु प्राप्त करने या किसी शत्रु

द्वारा बध किए जाने पर ही हो सकती है। सींगों का वह पेचीदा बंधन उनका घातक सिद्ध होता है।

वैज्ञानिक पर्यवेक्षकों का कथन है कि मृगों के पारस्परिक युद्ध में सदा केवल सींग ही निर्णायक अस्त्र नहीं हो सकती। ऐसा प्रत्यक्ष देखा गया है कि किसी शृंगहीन मृग ने ही शृंगधारी मृग पर अपने प्रबल थूथन से ऐसा प्रहार किया कि वक्षस्थल की पसलियाँ चूर-चूर हो गईं। किसी अन्य शत्रु पर भी ऐसा आक्रमण कर शृंगहीन मृग अपनी रक्षा अनेक अवसरों पर कर सकता है।

नर मृगों की सींग गर्भाधान कार्य समाप्त करने के कुछ समय बाद तक भी रहती है किन्तु बाद में गिर जाती है। उसके गिरने का समय मृग को आयु पर निर्भर करता है, अपेक्षाकृत वयस्क की अपेक्षा न्यूनवय के मृग शीघ्र शृंगपात कर डालते हैं। स्थान तथा वातावरण का भी उसके गिरने के समय पर प्रभाव पड़ता है। ऐसा ज्ञात होता है कि जैसा आहार मृग करते हैं, उसका प्रत्यक्ष प्रभाव सींग पर पड़ता है। घास-पात आदि चारों में सींग की अस्थि उत्पन्न होने का उपादान रहता है। अस्थि का तत्व चूनम् या कालिशयम कहलाता है। प्रचुर घास होने पर चूनम् (कालिशयम) की उसमें यथेष्ट मात्रा रह सकती है, अतएव मृग में भी हड्डी की अधिक वृद्धि का अवसर रह सकता है। चारा प्रचुर होने के समय ही सींग का उत्पादन होता है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि मृग प्रचुर चारा पाकर खा-खाकर अघा जाया करता है, तो उस ऋतु में वनस्पतियों से यथेष्ट चूनम् शरीर में पहुँचता है किन्तु उसकी इतनी अधिक राशि पहुँचती जाती है कि अस्थि का अंश सींग रूप में फूट पड़कर बाहर निकलने लगता है। किन्तु जो शृंगहीन मृग हैं उनमें चारा की अधिकता से शरीर में प्रविष्ट अतिरिक्त चूनम् का प्रयोग भ्रूण के अधिक

समय तक पोषण तथा अंगों की वृद्धि में होता है। शृंगधारियों में भी युवा मृग यथेष्ट पाचन शक्ति रखने से चूनम् भी अधिक पचाकर सींग की भरपूर वृद्धि करते हैं, परन्तु जरायु मृग शिथिल पाचन से शरीर में चूनम् उतना नहीं पहुँचा पाते। इसी कारण सींग का आकार क्षीण होने लगता है। किन्तु ऐसी अर्जित वस्तु को नियमित रूप से गिरा-गिराकर प्रतिवर्ष मृग अपव्यय का क्यों उदाहरण रखते हैं इसका कारण कोई भी विद्वान् नहीं बता पाता। यह अवश्य देखा गया है कि चूनम् के अभावयुक्त चारा के स्थान में मृग अपनी गिराई हुई सींग और मखमली ओढ़नी खा लिया करते हैं।

मृगों का निवास जंगलों या घास के मैदानों में होता है। मरुस्थल में वे कभी नहीं पाये जाते हैं। पश्चिमी गोलार्द्ध में योरप और एशिया के अधिकांश भूभाग में मृग पाये जाते हैं। अफ्रीका में सहारा के उत्तर के भूभाग में ही इसका प्रसार है। वैज्ञानिकों का कथन है कि जब रोमंथक (जुगाली करने वाले) पशुओं का पहले-पहल उदय हुआ होगा, वे क्षुद्रकाय और प्रायः शृंगहीन रहे होंगे। उनमें भी मृगों की जाति कदाचित् सर्वप्रथम उत्पन्न हुई। उत्तरी अमेरिका में तो पश्चिमी गोलार्द्ध के मृगों की कुछ जातियाँ फैली हैं परन्तु नवीन जातियाँ भी हैं जो चिली (दक्षिण अमेरिका) तक प्रसारित पाई जाती हैं।

पश्चिमी गोलार्द्ध की मृग जातियों में भारत में पृषत् मृग (चीतल या चित्रक) का सुन्दर रूप मध्यप्रदेश, हिमालय के अंचल और तराई में मिलता है, शंबर (सांभर) का रूप भारतीय मृगों में सबसे बड़ा होता है। इसमें भव्य सींग होती है। यह मध्यवर्ती भारत में पाया जाता है। गंगा के उत्तर के भूभाग में इसकी औसत सींग छोटी होती है जो दक्षिणी भारत के शंबर की सींग के बराबर ही होती है। पूर्व की ओर आसाम में शंबर की सींग पुष्ट होने पर

भी ३० इञ्च से अधिक लम्बी नहीं होती। इन विभिन्नताओं का कारण इनके प्रसार के भूभागों में चारा की विभिन्नता तथा विभिन्न मात्रा में उसकी सुलभता है। इसके आकार और सींग का रूप निवास-क्षेत्र के अनुकूल ही होता है। गठीली और अपेक्षाकृत छोटी सींगों युक्त शम्बर का आकार आसाम के घने जङ्गलों में चल सकने के लिए बिलकुल उपयुक्त होता है। यदि इसकी सींग विशाल और अधिक फैली होती तो जङ्गलों के सघन कुञ्जों और वृक्षों की शाखाओं से इसकी सींग उलझ-उलझ कर इसकी जाति ही लुप्त होने का अवसर लाती।

मृग के रूप-विभेद का कारण स्थान की विभिन्नता भी हो सकती है। बारहसिंगें की ही बात लीजिये। यह तराई में भी पाया जाता है और मध्यप्रदेश में भी मिलता है। इन दोनों स्थानों के बारहसिंगे एक जाति के ही बारहसिंगे हैं परन्तु तराई में अर्द्ध जल-मग्न स्थल होता है। अतएव वहाँ के बारहसिंगे को उथला पानी जमा रहनेवाली भूमि में रहना पड़ता है किन्तु मध्यप्रदेश में वह घास के मैदानों में रहता है जो शुष्क भूमि होती है। अतएव इन स्थानों के प्रकार की विभिन्नता के कारण बारहसिंगे में भी परिवर्तन देखा जाता है। मध्यप्रदेश के बारहसिंगे के पैर में छोटे, कड़े तथा गँठे हुए खुर होते हैं जिससे वह सूखी भूमि पर छलाँगें मारकर भाग सके किन्तु तराई के रहने वाले बारहसिंगे में पैरों के खुर बड़े, तथा बाहर की ओर फैले हुए होते हैं। उनकी सहायता से उन्हें जलमग्न भूखंडों में चलने में सुविधा होती है।

कानों की रचना का उदाहरण लीजिये। शंबर (साँभर) तथा त्र्यंकु (बारहसिंगे) में लंबे फैले हुए कान होते हैं किन्तु पृषत् या चित्रक मृग के कान अधिक छोटे और गँठे हुए होते हैं। इनके जीवन-क्रम पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि साँभर गहन वनों का

निवासी है तथा बारहसिंगे को लंबोतरी घासों के मध्य छिपते पाया जाता है। इन स्थितियों में साँभर और बारहसिंगे की दृष्टि सीमित क्षेत्र तक ही जा सकने वाली होती है अतएव इनकी श्रवण शक्ति प्रबल होना आवश्यक होता है। बड़े कानों में विस्तृत क्षेत्र होने से अधिक से अधिक शब्द ग्रहण कर सकने की शक्ति होती है, किन्तु पृषत् मृग (चीतल) तो अधिक खुले स्थानों में रहता है, इसलिए उसकी दृष्टि का क्षेत्र अवरुद्ध नहीं होता, फलतः श्रवण शक्ति प्रबल रखने की आवश्यकता ही नहीं होती।

इस दृष्टि से ज्ञात होता है कि जो मृग मैदानों, जङ्गल के बाहरी छोरों आदि में रहते हैं उनमें दृष्टि शक्ति ही आवश्यक होती है, इस कारण श्रवणशक्ति का विशेष विकास नहीं हुआ रहता। इसके विपरीत जो मृग घने बनों, झाड़-झंखाड़ों, घनी घासों या अन्य घिरे स्थलों में रहते हैं जहाँ दृष्टि के फैलाव की सीमा अधिक नहीं हो सकती उनमें श्रवण शक्ति ही विशेष विकसित रहती है। दृष्टि शक्ति के विशेष विकास की आवश्यकता नहीं होती।

सभी मृगों में मुख के सामने के भाग में ग्रंथियाँ होती हैं, परन्तु शंबर में मुखाग्र-ग्रंथियाँ सबसे बड़ी पाई जाती हैं। वे अत्यधिक विकसित भी होती हैं। उसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि वह घने जङ्गल का रहने वाला होता है। अतएव उस वातावरण में मृगियों को अपनी ओर आकर्षित करना कठिन ही हो सकता है। उसके लिए नर शंबर की उच्च पुकार तथा मुखाग्रीय ग्रंथि की तीव्र वास मृगी को आकर्षित करने के लिए यथेष्ट होती है। गर्भाधान या प्रेमासक्ति काल में ही मुखाग्रीय वास-ग्रंथि सबसे अधिक विकसित हुई रहती है। पृषत् (चित्रक) तथा न्यंकु (बारहसिंगे) में मुखाग्रीय वास-ग्रंथि उतनी अधिक विकसित रखने की आवश्यकता नहीं होती। उनमें नर मृगों का परस्पर युद्ध मृगियों के सम्मुख

होता है। विजयी मृग की ओर मृगियाँ अनायास ही आकर्षित हो जाती हैं।

ऋतुओं के परिवर्तन का भी मृगों के रङ्ग पर प्रभाव पड़ता है। वह परिवर्तन प्रकृति उनके जीवनक्रम में सुविधा लाने के लिए करती है। उदाहरणतः ग्रीष्मऋतु में हलके रङ्ग के पुट युक्त बाल होते हैं परन्तु जाड़े में गहरे रंग के बाल हो जाते हैं। जंगलों में वर्षा के बाद वनस्पति की भारी बाढ़ हुई रहती है, इस कारण जाड़े में उनकी सघन छाया में गहरे रंग के मृग भली-भाँति विचरण करते हैं। उनको दूर से शीघ्र देखा नहीं जा सकता परन्तु ग्रीष्मकाल में पत्तियों की विरलता के कारण धरातल पर धूप अधिक आती है। उसमें हल्के रंगों की पुट युक्त अधिकांश मृग होते हैं, अतएव उनका शरीर उस धूप में छिप जाता है। गर्मी की ऋतु में उनके शरीर का रंग प्रायः चित्रित होता है। धब्बों के होने से विरल पत्तियों से छन-छन कर आती हुई धूप और छाया के मिश्रित धूप-छाँह के अनुरूप ही उनका चित्रित शरीर हो जाता हैं।

काश्मीरी मृग शावक, मादा और अलपवय मृग प्रायः चित्रित रूप रखते है। न्यंकु (बारहसिंगे) और शूकर मृगों की भी यही दशा होती है। उनके शरीर पर श्वेत या अपेक्षाकृत हल्के रङ्ग के बालों का बीच-बीच में मिश्रित रूप होता है। इस तरह का छींटदार रूप उनकी रक्षा में अधिक सहायक होता है। उनके शरीर का सपाट रङ्ग छींटों के या धब्बों के कारण खंडित हो जाता है और धूपछाँह के वातावरण में अधिक दृश्य नहीं हो सकता। ऐसी व्यवस्था को ही जन्तुओं की रूप-रंग-वंचकता कह सकते हैं।

शीत देशों में इसके विपरीत व्यवस्था होती है। वहाँ तो शीत-काल में वृक्षों की सारी पत्तियाँ विनष्ट हो गई होती हैं और घनी छाया की जगह पर खुला ही वातावरण होता है। उसमें तो हल्का

रंग ही खप सकता है परन्तु शीतकाल के पश्चात् वसंत के आगमन पर जब वनस्पति जगत में शीतप्रदेश नवजीवन का प्रभात देखते हैं तो उसके पश्चात् की ग्रीष्मऋतु में हमारे देश के समान उष्ण प्रदेशों की वर्षान्तर ऋतु की घनी हरियाली उत्पन्न होती है, अतएव वहाँ ग्रीष्म में ही गहरे रंग के रोमों के पशु सहज छिपे रह सकते हैं।

जिन स्थानों में गर्मी तथा जाड़े की ऋतु के कारण वनस्पतियों के रूप में भारी अन्तर नहीं होता, वहाँ के पशु को अपने शरीर के बालों का रंग दोनों ऋतुओं में लगभग एक समान रखने से ही काम चल जाता है। उदाहरणात: शंबर (साँभर) मृग के रहने के स्थान जंगल हैं जहाँ धूप और छाया के रूप में गर्मी और जाड़े में भारी अन्तर नहीं होता। इस कारण शंबर मृग के शरीर पर गर्मी या जाड़े किसी ऋतु में चित्रित रूप नहीं होता। इसके विपरीत पृषत् मृग (चीतल) दोनों ही ऋतुओं में अपने शरीर का रंग चित्रित (बिन्दुकित) ही रखता है। उसके शरीर पर के बिन्दुओं की रेखा-वत् फैली पंक्तियाँ प्रत्येक ऋतु में बनी ही रहती हैं। वह सघन वन में कभी नहीं रहता। विरल वनों में पत्तियों में छन कर आने वाली धूप धूप-छाँह का झिलमिल रूप नहीं बनाती जिसमें उसके शरीर का चित्रण किसी ऋतु में छिप सके। यह जंगलों में बाह्य आंचल में रहने वाला ही पशु है, जहाँ उसके शरीर का चटकीला चित्रण स्पष्ट दिखाई पड़ता रहता है। इस विषमता का कारण अज्ञात है।

स्यंश्रु (बारहसिंगा) में भी ऐसी कठिनाई होती है। वह तराई के दलदल स्थलों में रहता है जहाँ लंबी घासों में उसका रूप छिप जाता है। परन्तु ग्रीष्म ऋतु में जब उसके शरीर का चित्रित रूप बन गया होता है, वे खुले स्थानों में चले आते हैं जहाँ की घास झुलस कर भूतल का नग्न रूप बनाए होती है। नई घास धीरे-धीरे उग ही रही होती है। खुले मैदान के उथले जल में भी वे पहुँचे

होते है जहाँ उन्हें जलीय वनस्पति आहार के लिए प्राप्त होते रहते हैं। किन्तु इन दोनों ही प्रकार के वातावरणों में उनका चित्रित रूप ग्रीष्म काल में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शूकर मृगों में भी ऐसी ही विषमता दिखाई पड़ सकती है। वे नदी-तटों पर उगे नरकुलों झाड़ियों आदि में चारा चरा करते हैं। परन्तु उनका शरीर चित्रित होने से छिपने का अवसर तनिक भी नहीं होता। ऐसा ज्ञात होता है कि अधिकांश मृगों में शिशु काल में अत्यंत स्पष्ट प्रदर्शित होने वाला चित्रित रूप उनके पूर्वजों के रहने के स्थान के अनुकूल व्यवस्था का ही चलता आ रहा रूप है जिसकी आज उन्हें आवश्यकता नहीं है। उनके जीवन यापन करने के क्षेत्र में अन्तर अवश्य पड़ गया है परन्तु अपनी व्यवस्था नई परिस्थिति के अनुरूप कर सकने में पिछड़ से गये हैं। शनैः-शनैः उसका लोप होता जा रहा है जिसे शंबर तथा कुछ अन्य जातियों के मृगों में पूर्ण हुआ देखा जाता है।

ऋतुओं के वार्षिक या दैनिक परिवर्तन के अनुसार पशुओं की वृत्ति में भी अंतर पड़ता है। पर्वतशृंग तथा पर्वत अधित्यका में से जिस समय जो उनके आहार तथा सहन शक्ति के अनुकूल हो सकता है, वहाँ वे निवास करते हैं। पर्वत-शृंग पर हिमपात होने से वे नीचे की ओर या घाटी में उतरने की वृत्ति रखते है तथा हिमपात का अवसर व्यतीत होने पर ऊँचाई के स्थल पर चारा की प्रचुरता होने पर घाटियों को छोड़ कर ऊपर पहुँचते हैं। काश्मीरी मृग या हंगुल शीत काल पहाड़ की निचली ढालू जगहों पर व्यतीत करता है किन्तु ग्रीष्म में पर्वतों की चोटियों पर रहता है।

साँभर मृग को शीतकाल में मध्य प्रदेश में जलखंडों में पानी में बैठा देखा जाता है। कड़ाके का जाड़ा पड़ने पर पानी के तल

पर से भाप उठती दिखाई पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि ऊपरी वायुमंडल या स्थल की अपेक्षा जल अधिक गर्म रहता होगा। इसी कारण शरीर गर्म रखने के लिए साँभर मृग पानी में उतरते होंगे।

आर्द्रता तथा शुष्कता का भी प्रभाव पशुओं के जीवन क्रम पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जिस दिन आर्द्रता अधिक होती है, मृग का घूमना फिरना अवरुद्ध सा रहता है। परन्तु शुष्कता के वातावरण में वह घूमने फिरने में प्रवृत्त होता है किन्तु एक दूसरी विचित्र बात भी होती है। वास-ग्रंथि आर्द्रता के वातावरण में वास का विशेष प्रसार करती है। परन्तु शीत तथा शुष्क वातावरण में वह क्रियाशून्य सी होती है। अतएव घोर आर्द्रता के वातावरण में मृग दल ग्रंथियों से प्रसारित गंध से प्रभावित होकर बहुत अधिक व्यग्र और उत्तेजित हो उठता है। .किन्तु कुछ जातियों में इसके विपरीत ही प्रभाव देखा जाता है। शीत तथा शुष्क वातावरण में रक्त मृगों में अधिक इन्द्रियाशक्ति पाई जाती है। घोर वर्षा के पश्चात् खुला अकाश होने पर मृगों में ही नहीं बल्कि अन्य पशु-पक्षियों में भी परिवर्तन के प्रति अपना आह्लाद उच्च.स्वर से प्रकट करने का दृश्य देखा जाता है। वर्षा का साधारणतया मृग की जाति पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पाया जाता। सतत वर्षा होने पर उनकी गति अवश्य अवरुद्ध होती है। यदि वर्षा अत्यधिक हो और तापमान भी बढ़ा हो तो रक्त मृग पहाड़ की ऊँचाई पर सूखे ढालों पर चले जाते हैं। यथार्थतः इन सब बातों का प्रभाव भिन्न भिन्न भूभागों की विभिन्न जातियों के मृगों पर बड़े पैमाने पर निरीक्षण करने का अभी तक प्रयत्न नहीं हो सका है।

जंतु जगत में मृगों के स्थान पर विचार कर हम देखते हैं कि

भिन्न भिन्न प्रकार के भूभागों में भिन्न जातियों के मृगों का निवास है जहाँ वे वनस्पति की अत्यधिक बाढ़ न्यून करने में अपनी उदरपूर्ति के साधारण व्यापार से योगदान करते हैं। भारत में जंगल के क्षेत्र में शंबर (सांभर), जंगलों के अंचल (किनारे किनारे के भाग) में पृषत (चीतल), जलमग्न तथा घास के मैदानों में न्यंकु (बारह सिंगा) तथा शीतोष्ण कटिबंध के बनों और ऊंची पर्वतमाला के ढालों पर काश्मीर मृग (हंगुल) का प्रसार है। इन स्थलों के विभिन्न हिंसक पशुओं का आहार बनकर ये अपनी संख्या नियंत्रित होने के प्राकृतिक विधान में सम्मिलित होने के लिए विवश रहते हैं। सब से बड़े आकार के मृगों को तो बाघ, तेंदुआ तथा बनकुत्ते आहार बनाते हैं। पृषत (चीतल) मृगों में से बहुतेरे तो घड़ियालों द्वारा पानी में घसीट कर मार डाले जाते हैं। नव संतान को अपेक्षाकृत छोटे हिसंक पशु ही अपना आहार बना लेते हैं। मनुष्य द्वारा प्राचीन काल से ही क्षात्र धर्म की रक्षा मृगया करने की चाल से लेकर आजकल के बंदूकधारियों की गोली द्वारा इनका सहज शिकार होने की कथा तो शिकार की कहानी हो सकती हैं।

जाति की जाति ही नष्ट न होने देने के लिए मृगों को प्रकृति द्वारा कुशलतापूर्वक विचक्षण इन्द्रियाँ ही नहीं प्रदान की गई हैं, प्रत्युत सहज पशुवृत्ति या आंतरिक प्रेरणा भी प्रदान की गई है। शत्रु से बचे रहने के लिए अत्यंत सतर्कता, संकट आगमन का अनुमान करने के लिए तीव्र घ्राण, श्रवण तथा दृष्टि शक्ति प्राप्त हुई रहती है। परन्तु इन सब गुणों से अधिक सहायक उनका भारी दल रूप में रहना है। न्यंकु (बारहसिंगे) तथा पृषत मृगों (चीतलों) का भारी झुंड जुट कर अपनी रक्षा करता है। उष्ण कटिबंध में मृगों में दल बनाकर रक्षा की भावना अधिक होती है।

दल में न होकर अकेले-दुकेले रहने पर ही ये हिंसक पशुओं के सहज आखेट बन जाया करते हैं।

मनुष्य और हिंसक जन्तुओं के अतिरिक्त भी मृगों के शत्रु होते हैं। परोपजीवी कीट केवल उनका रक्त ही नहीं चूसते बल्कि ऐसे रूप के भी होते हैं जो उनके बालों में अपने अंडे देते हैं। इन परोपजीवी क्षुद्रकाय आततायियों से जान छुड़ाने के लिए मृगों को भागते देखा जाता है। शंबर मृग इनसे ही छुटकारा पाने के लिए मानसून के गर्म लगने वाले सूखे दिनों में खुले भागों में भाग जाता है। उस समय कुछ आततायी मक्खियाँ बड़ी ही क्रियाशील होती हैं।

मृगों में अन्य पशुओं से हिल मिल कर रहने की प्रवृत्ति पृषक (चीतल) में सब से अधिक होती है। वह न्यंकु (बारहसिंगों), नील गाय तथा कृष्ण हरिण या शूकर तक के साथ मिलकर दल बनाए पड़ा रह सकता है। शंबर मृगों को न्यंकु (बारहसिंगे) के सम्पर्क में रहते देखा जाता है किन्तु शंबर मृग कभी भी साथ नहीं कर सकता। चीतलों के विशेष मित्र तो बंदर, लंगूर आदि जान पड़ते है। वृक्षों पर जहाँ बंदर फल खाकर फल और पत्तियाँ व्यर्थ में नीचे गिराते रहते हैं, उनको ही खाने के लिए नीचे मृग तथा वन्य ढोर एकत्र रह सकते हैं। मैना तथा अन्य पक्षी प्रायः मृग तथा ढोरों के साथ पाए जाते हैं। वे उनकी पीठ पर बैठ कर उनके शरीर से चिपके परोपजीवी कीटों, किलनियों आदि को खाते हैं। इन पशुओं के पैर से बाधा पहुँचने पर भूमि पर इधर उधर कूदने वाले कीटों को खाते हैं।

मृग वंशीय जातियों का हमारे देश में बहुसंख्यक प्रसार था। मनुष्यों के बधकार्य से उनकी संख्या तथा प्रसार-क्षेत्र न्यून हो गया है। एक प्रधान कारण है जिससे मनुष्यों द्वारा इनकी संख्या में भारी

न्यूनता हुई। बात यह है कि मृगों में अधिकांशतः कोई पुष्टतम नर मृगियों की भारी संख्या एकाधिकृत कर गर्भाधान का अवसर देता है। कभी-कभी तो साठ मृगियाँ तक उसके वश में हो सकती हैं। नर मृग अपने पौरुष के बल पर अन्य सभी प्रतिद्वन्द्वी नरों को दूर भगाता रहता है। यदि मनुष्य की दृष्टि पड़ी तो वह पहले पृषत नर मृग को ही मार कर अपनी आखेट वृत्ति पूर्ण करने का प्रयत्न करेगा। परन्तु एक मृगराज के मरने से मृगवंश की भारी हानि हो जाती है। कोई पुष्टतम या प्रबलतम नर मृग प्रतिद्वन्द्विता में विजयी हो कर जब मृगियों को गर्भाधान करने का अवसर देता है तो एक विशेष बात होती है। गर्भाधान कराने की वृत्ति आयु और बल के अनुसार ही अपेक्षाकृत पहले या बाद में उत्पन्न होती है। प्रबलतम नर मृग में सब से पहले यह वृत्ति उत्पन्न होगी। उसके गर्भाधान कराने का समय ऐसा होता है कि शिशु-जनन का अवसर आते आते धरा प्रचुर हरीतिमा युक्त हो गई होती है। चारों ओर चारे की बहुतायत होती है। शिशु के पालन पोषण में सुविधा होती है। यह शिशु-जनन काल भारत में वर्षा काल में होता है।

जब प्रबलतम मृग गर्भाधान कराने से किसी प्रकार वंचित होता है या मृत हो जाता है तो अपेक्षाकृत दुर्बल नर मृग ही गर्भाधान करा सकते हैं, परन्तु उन में गर्भाधान कराने की वृत्ति बाद में उत्पन्न होती है। प्रकृति का विधान ऐसा है कि प्रबल नर मृग जब मृगियों को गर्भाधान करा कर एकाकी जीवन व्यतीत करने या नरों की ही मंडली में रहने चला जाता है तो अपेक्षाकृत न्यून वय के किन्तु प्रौढ़ अवस्था के, गर्भाधान कराने की शक्ति से सम्पन्न, नर मृग कुछ मृगियों को उस समय तक गर्भान्वित होने का अवसर न मिल सकने पर उन्हें गर्भाधान कराने का अवसर पाते

हैं। उनकी संतान निश्चय ही उतनी पुष्ट नहीं हो सकती। उनका जनन आहार की न्यूनता होने लगने पर ही नहीं होता, बल्कि शीत का भी घोर प्रकोप हो चुके रहने से संतानों में से कितनी मृत भी हो जाती हैं।

अधिकांश मृगों को दलप्रिय पाया जाता है, परन्तु विचित्रता यह है कि प्राय: मृगियाँ ही पारिवारिक दल बनातीं तथा उसका अनुशासन अपने हाथ रखती हैं। सारा दल उस दलपति के निर्देशानुसार चलता है। परन्तु दल में मृगियाँ, मृगशावक तथा प्रौढ़ता को प्राप्त न हो सके नर ही विद्यमान होते हैं। नर प्रौढ़ होते ही दल छोड़कर पृथक हो जाते हैं और कहीं एकाकी या अन्य प्रौढ़ नरों के साथ दल बना कर वर्ष भर रहते हैं। प्रायः प्रौढ़ बने नर मृग अपनी युवक मंडली पृथक बनाते हैं। जब गर्भाधान ऋतु का आगमन होता है तो नरों की मंडली में उत्पात, खलबली, कलह आदि का उद्रेक होता है। प्रबल मृग दुर्बल नरों को भगाता है और अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक मृगियों के दल पर अधिकार करना चाहता है। वह सब मृगियों को एक बारगी ही गर्भाधान कराने में प्रवृत्त नहीं होता। कुछ को गर्भाधान कराकर कुछ विश्राम के लिए वह एकाकी जीवन व्यतीत कर या पुन: शक्ति संचयकर मृगियों के दल में आता है। प्रबलतम या पूर्णतः अगली गर्भाधान ऋतु तक के लिए हट जाने पर अन्य नर गर्भाधान कराते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि गर्भाधान कराने में प्रवृत्त न होनेवाले दो एक अन्य नर गर्भाधान ऋतु में प्रबलतम नर मृग के साथ प्रहरी की भाँति रहें।

पारस्परिक संबंध बनाए रखने के लिए मृगों में वास ग्रंथि की व्यवस्था व्यापक रूप में पाई जाती है। अधिकांश मृगों में आँखों के नीचे मुख के सामने वास ग्रंथियाँ होती हैं। मुंतजक (पिंडल

मुखी मृग) में भाल पर भी वास-ग्रंथि होती है। ये वास-ग्रंथियाँ विशेषतया गर्भाधान ऋतु में सक्रिय होती हैं। वे मृगियों को आकर्षित करने का साधन होती हैं। जो सघन बनों में रहते हैं उन मृगों की जातियों के लिए वे अधिक सहायक होती हैं। उनकी मुखाग्रीय वास-ग्रंथियाँ दीर्घकाय और अत्यधिक विकसित होती हैं। इनके अतिरिक्त अधिकांश मृगों में खुरों के मध्य भी वास-ग्रंथियाँ होती हैं। गुल्फ के भीतरी तल पर रोम-गुच्छ इनकी स्थिति प्रकट करते हैं। जहाँ जहाँ मृग जाते हैं, खुर की वास-ग्रंथियाँ उनके पगचिन्हों को वासित कर दल के अन्य भूले भटके मृगों का मार्ग-निर्देश करती हैं।

मृगियों द्वारा दलस्थापन एक अद्भुत घटना है। उनके ऊपर ही शिशुओं के पोषण का भार होने से वंश रक्षा का भी भार होता है। वे पारिवारिक दल ही बना कर रहती हैं किन्तु कई पारिवारिक दलों का भी संयुक्त झुंड होता है जिसमें कोई मृगी दलपति बनाली जाती है और अन्य सब उसी का अनुसरण करते हैं। किसी का उससे विरोध या रागद्वेष नहीं होता। जब कहीं सारे दल को जाना होता है, दलपति मृगी आगे होती है। वह रह-रह कर सिर उठाती, सूँघती, कान मोड़ती तथा नेत्र विस्फारित करती है, जिससे कोई आगामी संकट उसके नाक, कान तथा नेत्रों द्वारा आभासित हो सके। यही नहीं, शिशु अवस्था में रहने पर भी मृगी नर-शावक की अपेक्षा अधिक सचेत रहती है। नर-शावक तो दल से पृथक होने पर प्रौढ़ावस्था में जीवन-सूत्र अपने हाथ में लेने पर ही सजग होते हैं। गर्भाधान काल में भी मृगी अपने दलपति आसन को त्यक्त नहीं करती। नर मृग की वृत्ति तो अधिक से अधिक मृगियों को किसी अन्य नर के हाथ में नहीं पड़ने देना होती है। कोई संकट की सूचना मिलने पर उस

समय भी सारा दल मृगी दलपति के ही नेतृत्व में चैतन्य हो उठता है। यदि संघर्ष हो तब नर मृगी-दल के साथ रह सकता है या स्वतंत्र मार्ग पकड़ता है।

नर मृगों का दल ठीक तरह दल नहीं कहा जा सकता। वहाँ न तो कोई दलपति या नेता होता है और न कोई अनुयायी। पूरा प्रजातान्त्रिक संगठन ही होता है जिसमें प्रत्येक स्वच्छंद होता है। रक्त मृगों में मृगी का दल ग्रीष्म काल में तो पहाड़ों के ऊपर रहता है और शीत काल में घाटियों में चला आता है। यह शीतकालीन आवास क्षेत्र ही गर्भाधान क्षेत्र भी होता है जहाँ नर मृग अपने ग्रीष्म निवासों से मृगियों के दल के पास आ जाते हैं। और अन्य प्रतिद्वन्दियों को हराकर उसे अपना अधिकार-क्षेत्र बनाते हैं। किन्तु भारतीय मृगों का विशेष अध्ययन नहीं हो सका है।

काश्मीरी मृग रक्त मृग का निकट संबंधी होता है। शीतोष्ण कटिबंध में इसका भी निवास होता है। तीन वर्ष पर इसके शावक प्रौढ़ होते हैं। तब तक वे मृगी दल में ही पड़े रहते हैं। ये दल ग्रीष्म में पर्वत शृंगों पर तथा शीत काल में घाटियों में निवास करते है। गर्भाधान कार्य घाटियों में होता है। वहाँ नर मृग गर्भाधान करने आते हैं और पुनः अन्य क्षेत्रों में चले जाते हैं। न्यंकु भी ऐसी ही वृत्ति रखते हैं। नर न्यंकु (बारहसिंगा) दिसंबर से मार्च तक मृगी दल में आकर गर्भाधान कराते हैं। मध्य दिसंबर से मध्य जनवरी तक सर्वाधिक गर्भाधन काल कहा जा सकता है। 'तीस मृगियों तक को एकत्र रख कर गर्भाधान कराने के बाद नर न्यंकु (बारहसिंगा) अपने एकाकी जीवन में लिप्त होने चला जाता है। प्रबलतम नर-मृग के मृगी दल में रहने पर अन्य नर भी कहीं आस-पास दुबके पड़े रहते हैं। कहीं किसी प्रतिद्वन्दी नर का पीछा करने के लिए प्रबलतम नर मृग दूर तक चला जाता

है तो उस अल्पकाल में ही कोई अन्य नर मृग मृगी-दल में आकर गर्भाधान कराने में लिप्त हो सकता है।

शम्बर मृगों की गर्भाधान विधि दूसरे प्रकार की होती है। वह सघन बनों का निवासी है, इसलिए मृगी-मंडल को एकत्र करने और उनके सम्मुख अन्य नर मृगों से युद्ध करने का अवसर नहीं हो सकता। अतएव वह दूसरा मार्ग ग्रहण करता है। वह किसी विशेष अरण्य भूभाग पर अधिकार करने के लिए ही अन्य नर मृगों से तुमुल युद्ध करता है। एक बार विजयी होने पर वह अन्य नर मृगों को वहाँ से भगा देता है और उस जंगल भर की मृगियों पर उसका अधिकार सा हो जाता है। उन्हें वह अपनी चिंघाड़ तथा तीव्र वास-ग्रंथियों की सक्रियता से आकृष्ट करता है। किन्तु अन्य व्यवस्था अन्य मृगों सी ही होती है। गर्भाधान कराकर नर मृग दूर चला जाता है।

पृषत या चीतल मृग जंगलों के छोर पर खुले स्थानों में रहता है इसलिए मृगी दल के सम्मुख नर मृग अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए संघर्ष करते हैं। किन्तु उनमें नर और मादा का पार्थक्य उतना स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। नर और मादा मृग साल भर तक साथ रहते दिखाई पड़ सकते हैं। गर्भाधान की विशेष सक्रियता किसी विशेष समय अवश्य पाई जाती है, परन्तु वर्ष के किसी भी मास में उसकी सन्तान उत्पन्न होती पाई जाती है।

शूकर मृग, पिंडलमुखी (मुंतजक) तथा कस्तूरी मृग आदि छोटे मृग उतने अधिक दलबद्ध नहीं होते। दो या तीन शूकर मृग से अधिक एकत्र नहीं मिलते। नर और मादा दोनों ही एकाकी रहते हैं। पिंडलमुखी (मुंतजक) एकाकी, जोड़े या पारिवारिक दल रूप में रहते हैं। नर ही दलपति हो सकता है। नर कलहप्रिय

होता है। वर्ष भर वह लड़ता मिल सकता है। शावक वर्ष भर में ही प्रौढ़ हो जाते हैं और दल से भगा दिए जाते हैं।

कस्तूरी मृग तथा चीन के जल मृग को छोड़ कर इस वंश की सब जातियों के नर शृंगपाती सींगों युक्त होते हैं। रेनडियस में मादा में भी सींगें होती हैं। मृगों की विभिन्न जातियाँ संसार भर में फैली हैं, किन्तु आस्ट्रेलिया, सहारा के दक्षिण अफ्रीका तथा मेडागास्कर में मृग नहीं होते।

शृंगपाती या मृगवंशी जातियाँ

काश्मीरी मृग (हंगुल)

पर्या० नाम—हंगुल या हंगलू (काश्मीरी) बारहसिंगा (हि०)

हंगुल की ऊँचाई कंधे के निकट चार फुट (४८-५० इंच) होती है। एक पुष्ट हंगुल का तौल पाँच मन होता है। किन्तु

काश्मीरी मृग (हंगुल)

इसका शरीर साँभर सदृश भारी-भरकम नहीं होता। पूँछ छोटी

होती है। उसकी लम्बाई सिर की लंबाई का तृतीयांश होती है। शरीर के बाल ठिंगने होते हैं किन्तु सन्तानोत्पादक हंगुल में अग्र-ग्रीवा पर लंबे तथा घने होते हैं। युवा हंगुल की सींग ४० इंच लम्बी होती है किन्तु ५०½ इंच तक लम्बी सींग भी पाई गई है।

हंगुल का रंग हल्के भूरे से गहरे भूरे तक होता है जो जीभ, ठुड्डी, अधोतल तथा जंघे पर मटमैला श्वेत होता है। कटि प्रदेश का श्वेत रंग पूँछ से अधिक ऊपर तक नहीं होता। वह एक मध्यवर्ती पट्टी पूँछ के आधार तल तक बनी होने से दो भागों में विभक्त रहता है। ग्रीष्म ऋतु में रंग धुँधला पड़ जाता है किन्तु शीतकाल में प्रगाढ़ हो जाता है। बड़े मृग का रंग बहुत गहरा या लाल मिश्रित भूरा होता है। तीन-चार वर्ष तक के शिशु का चित्रित रंग होता है। वयोवृद्धों में श्वेत धब्बे दिखाई पड़ते हैं। इसकी सींग में लगभग दस शाखाएँ होती हैं। किन्तु वह बढ़ती-बढ़ती एक जोड़े सींग में अठारह तक हो सकती है। शृंग का मध्यवर्ती मुख्य दंड सात इंच मोटा होता है।

हंगुल चीड़ के जंगलों में विशेषतया वहाँ रहता है जहाँ घास के मैदान हों तथा जल भंडार निकटवर्ती हो। यह दूर-दूर तक दौड़ लगाता हैं। शीतकाल में यह झुण्डों में रहता है किन्तु ग्रीष्म में विरले झुण्ड ही पाये जाते हैं। उस समय यह एकाकी रहता है। वसन्त ऋतु (मार्च-अप्रैल) में यह अपनी सींग गिराता है। अक्टूबर में नई सींग निकल आती है। उसी समय इसके जोड़े बनने प्रारंभ होते हैं। गर्भधारण काल छः मास होता है।

हंगुल का प्रसार-क्षेत्र काश्मीर घाटी का उत्तरी भाग है। अन्य निकटवर्ती घाटियों में भी पाया जाता है। ग्रीष्म में ९००० से १२००० फुट तक ऊँचे पर्वत शृंगों पर रहता है। घोर शीत में नीचे उतर आता है।

भ्रूशृंगी मृग

पर्या० नाम—थामेंग (बर्मा) संगरै संगनै (मनीपुर पूर्वी-हिमालय, तराई)

भ्रूशृंगी या थामेंग मृग की ऊँचाई कंधे के निकट चार फुट होती है। मादा छोटी होती है। सींग की लंबाई अधिक से अधिक ४२ इंच होती है। सिर ३५ इंच लम्बा होता होगा।

भ्रशृंगी मृग का रंग ऋतु-ऋतु में परिवर्तित होता है। साधारणतया नर भ्रूशृंगी गहरे भूरे या लगभग काले रंग का होता है। मादा हल्के भूरे या लाल मिश्रित भूरे रंग की होती है। शिशु चित्रित होता है। जहाँ शीत ऋतु में गहरे भूरे रंग का शरीर पाया जाता है वहाँ ग्रीष्म में पीलापनयुक्त भूरा रंग हो जाता है। बाल मोटे तथा विरल होते हैं। इसकी एक उपजाति बर्मा में होती है तथा दूसरी उपजाति मणिपुर (आसाम) में पाई जाती है। मणिपुर (मनीपुर) की उपजाति में पिछले खुर केवल रोम-गुच्छ होने के स्थान पर कठोर शृंगीय रूप के होते हैं और चलने पर भूमि स्पर्श करते हैं, अतएव जलमग्न भूमि में उसे अपने पग दृढ़ता से रखकर चलने की सुविधा होता है।

भ्रूशृंगी मृग में प्रायः खड़े शृंगीय अर्वुद ठस रूप के होते हैं। उनसे निकले शृंग भव्य होते हैं। दूर से देखने पर शृंग बिल्कुल गोलाकार जान पड़ते हैं। भ्रूशाखा के मूल से ऊपर उठा मुख्य शृंगदंड ऊपरी छोर तक एक अविच्छिन्न सुन्दर वक्र रूप में बढ़ा होता है। शृंगशीर्षीय शाखाएँ दो या तीन से लेकर आठ या दस तक होती हैं। दूसरे वर्ष शृंग उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु पूर्ण वृद्धि सात वर्ष की आयु में हो चुकी होती है।

भ्रूशृंगी का प्रसार-क्षेत्र मणिपुर बर्मा, से लेकर मलाया,

कंबोडिया तथा हैनान तक है। यह प्राय: जलमग्न भूमि का ही मृग है। जलमग्न भूमि तथा घास के मैदानों में पाया जाता है। यह झुण्डों में रहता है। पचास या उससे भी अधिक भ्रूशृंगी मृगों का झुण्ड मिलता है। यह जलमग्न स्थलों के जंगली धान तथा वनस्पति और मैदानों की घास खाता है। आर्द्र स्थलों से दूर भी पाया जाता है।

भ्रूशृंगी मृग पहाड़ियों तथा घने जंगलों से दूर रहता है। खुले विरल जंगल, घास के मैदान या जलमग्न स्थान आदि पसंद करता है। दोपहर की धूप में तो विश्राम करता है परन्तु प्रातः-संध्या चारा ढूँढ़ता है। रात को खेतों में जाकर फसल संहार करता है। रक्षा का मुख्य साधन इसकी तीव्र दृष्टि तथा वेगपूर्ण गति है।

भ्रूशृंगी अपनी सींग मध्य अगस्त में गिरा देता है। त्वचा आच्छादन को दिसम्बर में झाड़कर अपनी नग्न सींग प्रदर्शित करता है। मार्च तथा अप्रैल में जोड़े बनते हैं और गर्भाधान होता है अक्टूबर में शिशु उत्पन्न होते हैं। गर्भाधान के पश्चात् नर भ्रूशृंगी अकेले या दो-एक मादाओं के साथ पृथक हो जाता है। मई के बाद तो बड़े भ्रूशृंगी नर मृगों को झुण्ड में कदाचित ही देखा जा सके।

न्यंकु मृग (बारहसिंगा)

पर्या० नाम—बारहसिंगा (हि०) बड़ाया, मादा (नेपा०), पोतियाहरन (मुंगेर), गोयन, गोयंजक, नर, गावनी, मादा (मध्य भारत)

बारहसिंगा की ऊँचाई कंधे के निकट तीन हाथ (डेढ़ गज या ५४ इंच) होती है। इसके शरीर का भार पाँच मन होता है। सींग की औसत लंबाई ढाई फुट होती है। मध्यवर्ती दंड की मोटाई ५

इंच होत [illegible] ४१ इंच लंबी सींग के भी उदाहरण हैं। मध्य प्रदेश में यह सबसे अधिक पुष्ट रूप का पाया जाता है।

बारहसिंगा का मुख लंबा तथा थूथन लंबोतरा और पतला होता है। शरीर के बाल कोमल रोयेंदार होते हैं। गर्दन पर अयाल सा होता है। शीत काल में इसका रंग प्राय: धुँधला भूरा होता है। ग्रीष्म में बादामी रंग होता है। रीढ़ की सीध में श्वेत धब्बे भी होते हैं। सींगें पहले सीधे ऊपर उठी होती हैं जिसमें आगे की ओर पहली शाखा मूल भाग से निकली होती है जिसे भ्रूश्रृंग या भ्रूशाखा कह सकते हैं वह ऊपर की ओर थोड़ी मुड़ी होती है। मुख्य शृंग-दंड सपाट रूप में लंबा उठा रह कर सिरे की ओर दो विभिन्न शाखाओं में विभाजित होता है। वे पुन: अनुशाखाओं में विभक्त होती हैं। भीतरी शाखा से दो अनुशाखाएँ फूटी होती हैं तथा बाहरी शाखा से तीन अनुशाखाएँ फूटी होती हैं। इस प्रकार कुल बारह शाखाएँ बन जाती हैं। इसका नाम बारहसिंगा होने का यही कारण है। शाखाओं तथा सींग के विभिन्न रूप भी पाए जाते हैं। १०, १२ या २० तक शाखाएँ भी कुछ बारहसिंगों में होती है।

बारहसिंगा का प्रसार-क्षेत्र केवल भारत है। इसकी दो जातियाँ हैं। एक जाति हिमालय की तराई, उत्तर प्रदेश, आसाम, तथा सुन्दर बन के आर्द्र स्थलों में रहती है। इसका माथा भारी होता है तथा पैर के खुर खुले होते हैं। दूसरी जाति मध्य प्रदेश में होती है जो खुली कठोर भूमि में रहती है और उसके खुर भली-भाँति आबद्ध होते हैं।

बारहसिंगा घास के मैदान का जानवर है। वह घने जंगलों से दूर रहता है। इसका मुख्य आहार घास है। मध्य प्रदेश में शाल के जंगलों का जहाँ फैलाव है वहीं बारहसिंगा भी पाया जाता है।

शीतकाल में सौ तक बारहसिंगों के झुंड जुट जाते हैं। अक्टूबर के बाद जोड़े बनने प्रारंभ होते हैं। फरवरी में सींग गिरती है।

शम्बर मृग

पर्या० नाम—साँभर, साँबर (हि०) जराय, जराव (हिमा०,) माहा (तराई), मेरन (मरा०) माऊ (गोंड), कड़ावी या कडाबा (कन्न०) कन्नडी (तेल०) घोंस, गावज (वंग)

साँभर मृग के शृंग भव्यतम होते हैं तथा यह मृग दीर्घतम आकार का होता है। कंधे के निकट इसकी ऊँचाई ५ फुट होती है। पूर्ण वयप्राप्त साँभर मृग का तोल लगभग ६ मन से ९ मन तक हो सकता है। नर्मदा तथा ताप्ती के निकटवर्ती बनों तथा मध्य प्रदेश में सुन्दरतम साँभर प्राप्त होते हैं।

साँभर का बाल मोटा तथा झबरा होता है। नर में गर्दन तथा कंठ में अयाल उगा होता है। ग्रीष्म में अधिक बाल गिर जाते हैं। इसका रंग भूरा होता है जिसमें पीलापन या धूसरपन की पुट होती है। अधोतल का रंग कुछ धुंधला होता है। मादा का रंग अपेक्षाकृत धूमिल होता है। वयोवृद्ध साँभर का रंग अधिक प्रगाढ़ होकर काला सा बन गया रहता है। शृंग पुष्ट तथा कठोर होते हैं। भ्रूशाखा मुख्य शृंगदंड से न्यून कोण बनाती है। सिरे पर मुख्य शृंगदंड लगभग दो बराबर शाखाओं में विभाजित होता है। किसी में तो भीतरी शाखा बड़ी होती है और किसी में बाहरी शाखा ही बड़ी होती है। चतुर्थ वर्ष में पूर्ण शाखाओं का उदय हो आता है।

साँभर का प्रसार-क्षेत्र दक्षिण-पूर्वी एशिया और मलाया के द्वीप फिलीपाइन आदि हैं किन्तु मुख्यतः पर्वतीय जंगलों में ही रहता है। हिमालय में १०००० फुट की ऊँचाई तक तथा दक्षिण

भारत और सिंहल में पहाड़ियों की चोटी पर यह पाया जाता है।

शम्बर मृग

जहाँ पर जंगल नहीं है वहाँ यह नहीं रहता। भारतीय उपजाति तो भारत में ही होती है, सिंहल उपजाति सिंहल में पाई जाती है तीसरी उपजाति मलाया की है जो आसाम से लेकर पूर्व में मलाया की ओर तक पाई जाती है।

साँभर का आहार घास-पात तथा जंगली फल हैं। यह खेतों के निकट पहाड़ी जंगलों में रहना पसंद करता है। यह रात को ही आहार की खोज में निकलता है। प्रातः होते ही घने वनस्पतियों

क आड़ में छिप जाता है। वहाँ से सन्ध्या तक बाहर नहीं निकलता। इसकी दृष्टि तो साधारण होती है, परन्तु घ्राण तथा श्रवण शक्ति प्रबल होती है। इतने बड़े आकार के जंतु का घने जंगलों के मध्य नीरव रूप में विचरण कर सकना एक आश्चर्य की ही बात है। यह पानी में प्रसन्नतापूर्वक प्रविष्ट हो जाता है और सारा शरीर जलमग्न रख कर तैरता रहता है। जलतल के ऊपर उसका मुख तथा शृंग दृष्टिगोचर होते रहते हैं। मध्य तथा दक्षिणी भारत में सींग गिराने का समय अंतिम मार्च से मध्य अप्रैल तक है। मई में सींग निकलनी प्रारंभ हो जाती है। वर्षा में उस पर मखमली त्वचा आच्छादित ही रहती है। नवम्बर में जब त्वचा-आच्छादन पृथक् हो जाता है तो नग्न शृंग ही दिखाई पड़ते हैं जो दुर्धर्ष शत्रुओं का सामना करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। अपने प्रतिद्वन्दियों से संघर्ष कर सकने के लिए साँभर सींग की त्वचा वृक्षों से रगड़कर फेंक देता है। नर साँभर अपना अधिकार-क्षेत्र बनाने के लिए युद्ध करता है। किसी अभीप्सित घाटी पर अधिकार जमाने के लिए उसे अन्य साँभर नरों से लड़ना पड़ता है। जो साँभर विजयी बन जाता है, वह उस घाटी में प्रवेश करने वाली मादा साँभरों का स्वामी बनता है। नवंबर तथा दिसंबर में जोड़े बनते हैं। नर के निकट अल्प संख्या में ही मादा होती है। गर्भाधान के पश्चात् नर-मादाओं को परित्यक्त कर कहीं एकाकी जीवन ही व्यतीत करता है। वर्षा के प्रारंभ में शिशु उत्पन्न होते हैं। शिशु माताओं के साथ रहते हैं। साँभरों का झुंड नहीं पाया जाता। चार-पाँच से लेकर एक दर्जन तक का झुंड देखा जा सकता है। नर या मादा एकाकी ही होते हैं या किसी झुंड में केवल मादा और शिशु होते हैं। नर का उस झुंड में स्थल नहीं होता।

शूकर मृग

पर्या० नाम—पाड़ा (हि०), खर लगना सुगोरिया (नेपाल तराई), नुघुरिनी हरन (वंग), वील मूहा (सिहंस)

शूकर मृग छोटे आकार का छोटे पैरों का मृग है। इसकी ऊँचाई कंधे के निकट लगभग दो फुट होती है। इसके सिर पर शृंगीय अर्बुद प्रमुखतः दिखाई पड़ते हैं। पूँछ की लम्बाई सिर की लम्बाई के बराबर होती है। इसके बाल ठिगने तथा सर्वांग चिकने होते हैं। शीतकाल में इसका रङ्ग भूरा तथा ग्रीष्मकाल में अपेक्षाकृत धूमिल तथा पीला होता है। प्रायः ऊपर की ओर कुछ न कुछ श्वेत या धुँधले धब्बों युक्त होता है। वयोवृद्ध शूकर मृग में इस काल में स्लेटी रंग हो जाता है। पूँछ का भीतरी तल श्वेत होता है। शिशुओं में छः मास तक श्वेत चित्रित रंग होता है।

शूकर मृग की सींग लगभग १ फुट लंबी होती है। उसमें मूल भाग से निकली हुई पहली शाखा या भ्रू-शाखा झुककर सीधे खड़ी हो गई होती है। मुख्य शृंग-दंड में सिरे पर दो शाखाएँ होती हैं। उनमें भीतरी शाखा विशेष छोटी होती है। इसका रूप युवा चीतल समान होता है। उसकी लम्बाई २० इञ्च से अधिक नहीं होती।

शूकर मृग जङ्गलों में एकाकी रूप में ही पाया जाता है। यह घास के खुले मैदानों को पसंद करता है। दिन को घनी हरियाली में छिपा रहता है। इसका रूप कुछ शूकर-सा होता है। अपना सिर नीचे रखता है। इसकी चाल तीव्र नहीं होती। मैदानी भाग में कुत्ते भी दौड़ में इसे हरा सकते हैं। चीतल मृग तो समाज-प्रिय होता है। परन्तु शूकर मृग एकाकी जीवन व्यतीत करता है। जब-तब जोड़े रूप में भी पाया जाता है।

शूकर मृग का प्रसारक्षेत्र गंगा तथा सिंध से सिंचित मैदान हैं बर्मा में भी मिलता है। सितंबर तथा अक्टूबर में जोड़े बनाता है। अप्रैल और मई में शिशु उत्पन्न होते हैं। गर्भधारण काल ८ मास होता है। वर्षाकाल में भी शिशु उत्पन्न होने के उदाहरण पाये जाते हैं।

पृषत् मृग (चीतल)

पर्या० नाम—चीतल, चित्र, चित्री झंक, नर (हि०) चातिडाह (भागलपुर), बोरो भोटिया (वंग०) बुड़िया (गोरख०) सरागा (कन्न०), डपी (तेल०), लूपी (गोंडा)

चीतल भव्यतम मृगों में से है। इसकी ऊँचाई कंधे के निकट, हिमालय के अंचल, तराई के जङ्गल तथा मध्य प्रदेश में तीन फुट होती है। सुन्दर बन का चीतल ढाई फुट ऊँचा ही होता है। मादा कुछ छोटी होती है। दुम गावदुम रूप की ऊपर से नीचे पतली होती जाती है। उसकी लम्बाई सिर के बराबर होती है। इसके बाल सर्वांग में कोमल होते हैं। उनका रङ्ग चटकीला लाल मिश्रित भूरा होता है जिसमें श्वेत चित्तियाँ पड़ी होती हैं। इसी कारण इसका नाम चीतल पड़ा है। सब ऋतुओं में तथा सभी आयु के चीतलों का रंग ऐसा ही होता है। पार्श्व भाग की निचली चित्तियाँ आड़ी पंक्ति रूप में बनी होती हैं। एक काला-सा चीतल भी होता है जिसमें धूमिल चित्तियाँ ही होती हैं। साधारण नमूनों में पृष्ठवंश की सीध में एक काली रेखा बनी होती है।

चीतल की सींग साँभर के नमूने की होती है। केवल एक आधार शाखा या भ्रू शाखा होती है और मुख्य श्रृंगदंड के सिरे पर दो शाखाएँ फूटी होती हैं। भ्रू शाखा मुख्य श्रृंगदंड से समकोण-सा बनाती मूलभाग से निकली होती है। साधारण शाखाओं में से

बाहरी शाखा मुख्य शृंगदण्ड का ही ऊपरी भाग होती है और भीतरी शाखा से बड़ी होती है। सींगों की लंबाई ३४ इञ्च यथेष्ट
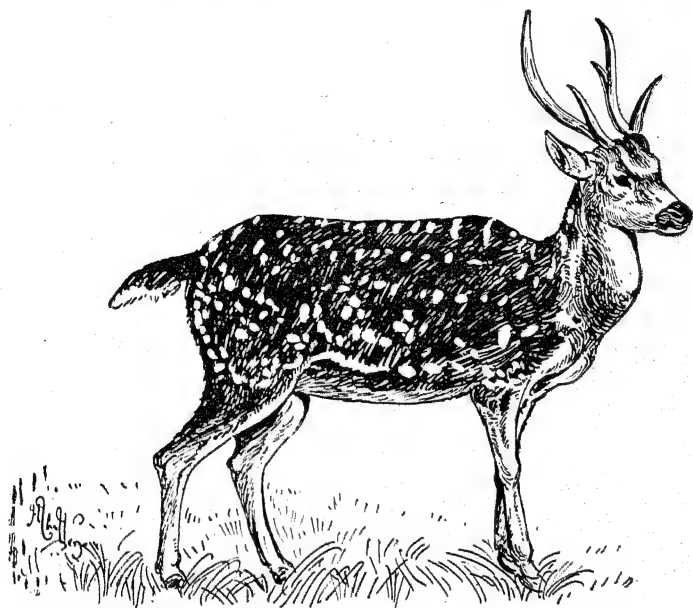
पृषत मृग (चीतल)

कही जा सकती है, परन्तु दक्षिण भारत में ३१ इञ्च ही होती है। ३८ इञ्च लम्बी सींग के भी उदाहरण प्राप्त हैं। मुख्य-दंड तथा अग्रशाखा के संधिस्थल पर अन्य शाखाओं के निकलने के चिह्न से ज्ञात होते हैं। एक नमूने में मुख्य शृंगदंड से पीछे की ओर एक बड़ी शाखा निकलने का प्रमाण मिला था जिसमें अन्य अनुशाखाएँ फूटती जान पड़ती थीं।

चीतल का प्रसारक्षेत्र सारे भारत में है। पश्चिमी पाकिस्तान में नहीं पाया जाता। हिमालय की ऊँची पर्वतमालाओं में भी नहीं रहता। दक्षिण भारत में ४००० फुट ऊँचाई तक की पहाड़ियों में रहता है। यह तराई तथा मैदान के जंगलों में रहता है जहाँ घास चरने के मैदान तथा जल की प्रचुरता हो। सूखे भागों में नहीं पाया जाता। आसाम तथा बंगाल की खाड़ी के पूर्व के भूभागों में नहीं रहता।

चीतल समाजप्रिय जन्तु है। दस से बीस तक का झुंड पाया जाता है जिसमें दो या तीन नर चीतल होते हैं परन्तु सौ-सौ के झुण्ड भी देखे गये हैं। बस्तियों के निकट भी रहने में इसे आपत्ति नहीं होती। खेतों में भी पहुँच जाता है। बन्दर या अन्य वन्य जन्तुओं के साथ मिलकर भी रह सकता है। इसकी रात्रिचारी वृत्ति बहुत कम होती है। दोपहर की तीव्र गर्मी का काल यह विश्राम करते व्यतीत करता है परन्तु पहले-पहर प्रातः तथा तीसरे-चौथे प्रहर अपराह्न में चरते व्यतीत करता है।

चीतल को सोतों के निकटवर्ती जंगलों, जल के ऊपर तक छाया फैलाते कुंजों तथा प्रचुर जलसिंचित हरीतिमा के भव्य वातावरण में विहार करते पाया जाता है। जलखण्डों से अधिक दूर के स्थलों में यह नहीं पाया जा सकता। जब इनका जोड़ा बनने का समय आता है, नर चीतलों को मादा चीतलों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए अन्य प्रतिद्वन्दी नरों से घोर संघर्ष करना पड़ता है। जोड़ा बनने का अत्युत्तम काल मई मास होता है, परन्तु कदाचित् वर्ष के किसी समय गर्भाधान होता है। इस कारण किसी भी मास में नवजात शिशु देखे जा सकते हैं। यह संतानोत्पादन में तीव्र होता है। छः मास में ही नया परिवार उत्पन्न हो जाता है। सींग गिराने का समय विभिन्न स्थलों में विभिन्न होता है। किन्तु सींग की

विभिन्न रूप की बाढ़ वर्ष के विभिन्न भागों में पाई जाती है। एक-बार में एक से लेकर तीन तक शिशु उपन्न होते हैं, परन्तु साधारण-तया दो शिशु एक बार उत्पन्न होते हैं। उत्तर भारत में जोड़ा बनने तथा गर्भाधान का समय शीतकाल कहा जा सकता है। मध्य प्रदेश में कदाचित् मई में जोड़े बनते हैं। मध्य प्रदेश तथा दक्षिण भारत में सींग गिराने का समय अगस्त-सितम्बर होता है।

पिंडलमुखी मृग (मुंतजक)

पर्या० नाम—काकट, भेड़की, जंगली बकरा (हिं०) माया (वंग०) रैतवा (नेपा०), करसिया (भूट०) सीकू या सूक (लेपचा) गूट्रा, गुदरी (गोंड), बेकरा या बैकूर (मरा०), कांकरी, चाली (कन्न०) कूकागोरी (तेल०), गी (बर्मी), किंडग (जावा), किज़ंग (मलाया) मुंतजक (सुंडा), वेल्ली, हूला मूहा (सिंहल) कलाई या काटू अरडू (तामि०), हुगेरी (आसा०)

वयस्क नर मुंतजक की ऊँचाई स्कंध प्रदेश के निकट २०-३० इंच (लगभग २ फुट) होती है। शरीर की लंबाई एक गज होती है। मादा कुछ छोटी होती है। पूँछ उतनी लंबी होती है जितनी सींग लंबी होती है। सींग उत्पन्न करने वाला शीर्षीय अर्बुद कुछ लंबा होता है। इस शृंगीय अर्बुद की लंबाई दो-तीन इंच होती है। मुख्य शृंग-दंड की लंबाई ५ इंच तक होती है। यों तो इसे ११ इंच तक लंबा उल्लिखित पाया जाता है। संभवतः शृंगीय अर्बुद को भी सींग के साथ ही मान कर इतनी अधिक लंबाई उल्लिखित की गई होगी। मध्य प्रदेश में अर्बुद को मिलाकर सात इंच तक लंबी सींग के मुंतजक पाए गए हैं। दक्षिण भारत में पौने सात इंच तक ही सींग की लंबाई होती है। सींग तो एकदंडीय या शाखाहीन ही होती है, परन्तु मूल भाग में एक

छोटी शाखा फूट निकली होती है जिसे मूल शाखा कह सकते हैं। इस मृग का विशेष नाम मुंतजक प्रसिद्ध है। यह शब्द सुँडा द्वीप का है। इस मृग की सींग के मूल में जो स्थायी अस्थि-

पिंडलमुखी मृग (मुंतजक)
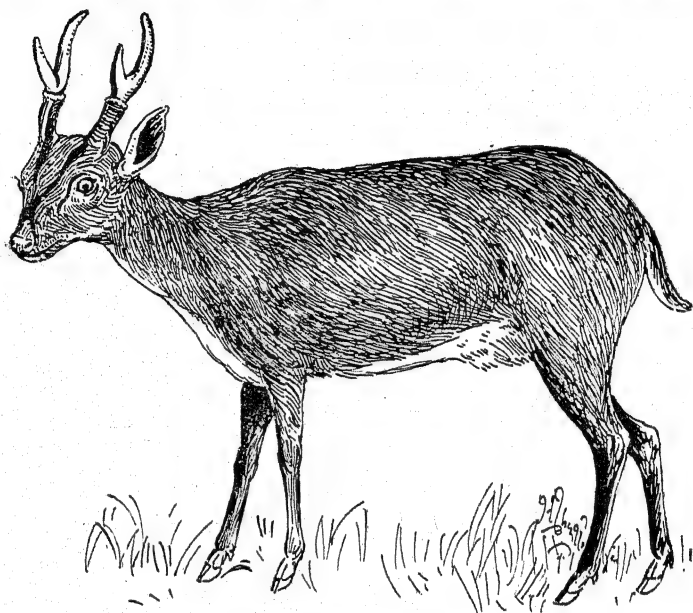
अर्बुद होते हैं वे त्वचा तथा बालों से आवृत होते हैं और दोनों ओर सिर के ऊपर बढ़े हुए निकले होते हैं। मादा में सींग की जगह बालों की कलंगी निकली होती है।

उत्तर भारतीय मुंतजक चमकीला बादामी होता है। बर्मा का मुंतजक चमकीला लाल होता है। पार्वत्य प्रदेशों में गहरे भूरे या धूसर युक्त काले रंग तक के भी मुंतजक पाए जाते हैं। किन्तु

साधारणतया इसके बाल घने चिकने चमकीले तथा चटक रक्तिम भूरे होते हैं। मुख के शृंगीय अस्थि-अर्बुद को मुख पर नीचे की ओर लंबे उभाड़ (पिंडल) रूप में फैला पाया जाता है। अतएव इस मृग को पिंडल मुखी भी कह सकते हैं। मुख पर के इन लंबे उभाड़ों (पिंडलों) के किनारे भीतर की ओर काली रेखाएँ होती हैं जो नर शृंगीय अर्बुद तक बढ़ी होती हैं। कंठ, नितंब तथा पूँछ का भीतरी तल श्वेत होता है। हिम सदृश सर्वांग पूर्ण श्वेत रंग के भी मुंतजक या पिंडल मुखी मृग देखे गए हैं। नवजात मुंतजक धूमिल धब्बों युक्त होते हैं।

मुंतजक का प्रसार-क्षेत्र भारत, सिंहल, बर्मा, मलाया से लेकर बोर्नियो, चीन, फारमूसा तथा जापान तक है। हिमालय में ६००० फुट से अधिक ऊँचाई पर शायद ही पाया जाता हो।

मुंतजक एकान्तप्रिय जन्तु है। यह अकेले या जोड़े रूप में रहता है किन्तु कभी-कभी तीन चार के भी एकत्र रहने के विरले उदाहरण पाए जाते हैं। यह घने पर्वतीय जंगलों में रहता है। घास चरने के लिए घोर जंगलों के समीप खुले मैदानों में आ जाता है। इसकी दिवा-जीवीवृत्ति होती है। इसका आहार विभिन्न घास-पात तथा जंगली फल हैं। यह चलते समय अपना सिर झुका लिए होता है। झाड़-झंखाड़ों के मध्य धीमी गति से चलता है। वन्दी रूप में अनेक प्रकार के मांस खाते पाया गया है। मुर्गी के अंडे भी खाता देता गया है।

मुंतजक की बोली कड़ी, कुत्ते के भौंकने समान होती है, अतएव इसे भौंकने वाला मृग भी कहा जाता है। इसकी जीभ इतनी लंबी होती है कि उससे लगभग अपना सारा मुख चाट लेता है। इसके कुकुरदंते (रदनक) कस्तूरी मृग से कुछ छोटे होते हैं। परन्तु उससे रक्षा का कार्य ले सकता है। शिकारी कुत्तों को

उन दाँतों से आहत कर सकता है। इस की चिंघाड़ मादा को आकर्षित करने के लिए भी होती है तथा संकट की सन्निकटता अभिव्यक्त करने के लिए भी होती है। मुंतजक वर्ष के प्रारंभ में जोड़ा बनाता है तथा आरंभ काल में संतान उत्पन्न होती है। एक या दो शिशु एक बार में उत्पन्न होते हैं। गर्भधारण की अवधि ६ मास होती है किन्तु अन्य समयों में भी शिशु उत्पन्न हुए पाये जाते हैं। मई और जून मुंतजक के सींग झाड़ने का समय होता है।

रू मृग

रू मृग की सींगें छोटी होती हैं। उसमें तीन शाखाएँ होती हैं। भ्रूवर्ती शाखा नहीं होती। पूँछ नाम मात्र को ही होती
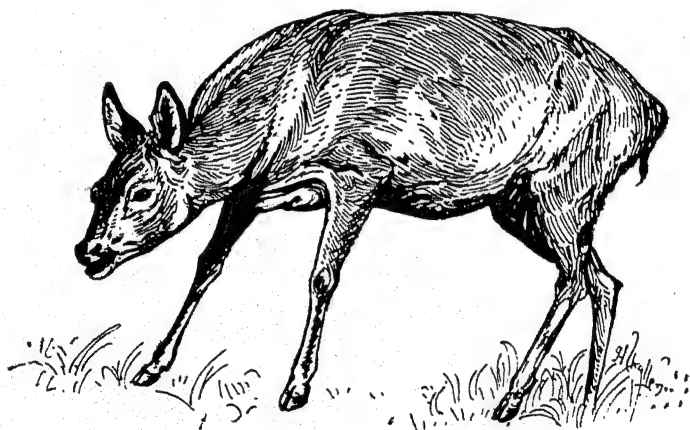
रू मृग

है। इसका प्रसार मध्य स्वेडेन, दक्षिणी नार्वे तथा इंगलैंड से लेकर मध्य और दक्षिणी योरप होकर एशिया में हिमालय के उत्तर तक

है। इसकी तीन जातियाँ होती है, (१) योरोपियन रू (२) साइ-बेरियन रू और (३) मंचूरियन रू।

रेनडियर (उत्तरी मृग)

रेनडियर ही एकमात्र पालतू मृग है जो मनुष्य द्वारा घरेलू कर्मों में उपयुक्त होता है। इसका ध्रुवीय क्षेत्र के निवासियों के जीवन में महत्वपूर्ण भाग होता है। पहले यह पूर्वी गोलार्द्ध में ही पाया जाता था, किन्तु अब पश्चिमी गोलार्द्ध में भी प्रसारित किया जा सका है। इसकी अनेक नस्लों को पालतू बनाया जा सका

रेनडियर

है। स्कैंडिनेविया तथा फिनलैंड के पालतू रेनडियर प्रसिद्ध हैं। पालतू रेनडियर मृग पशुशालाओं में नहीं रहते बल्कि झुण्ड रूप में स्वामियों की देख-रेख में घूमते रहते हैं। उनसे मांस तथा

दूध प्राप्त होता है। बिना पहिए की बर्फीली गाड़ी खींचने में भी इनका उपयोग होता है। सामान लादने या सवारी के काम भी आते हैं। एक बार में एक शिशु ही उत्पन्न होता है। इस मृग को ही केरिबाऊ भी कहते हैं। केवल यही एक मृग है जिसकी मादा में भी सींगें होती हैं।

वैपिटी मृग

वैपिटी मृग बड़ी जाति का मृग है। मध्य तथा उत्तरी-पूर्वी

वैपिटी मृग

एशिया तथा उत्तरी अमेरिका में इसकी कई जातियाँ पाई जाती

हैं। शरीर का रंग प्रायः पीला भूरा होता है। केशर (अयाल) का रंग गहरा होता है। पैरों का रंग बादामी भूरा होता है। नितंब पर हल्के रंग का धब्बा होता है। सींगें फैली होती हैं जिनमें प्रत्येक में कम से कम पाँच शाखाएँ होती हैं।

फैलो मृग

ग्रीष्म में शरीर का रंग लाल भूरा होता है जिसमें सफेद धब्बे होते हैं। जाड़े में अधिक धूसर रंग हो जाता है। धब्बा प्रायः बिल्कुल नहीं रहता। सींगें सिरों पर हथेली समान होती हैं। पिछले
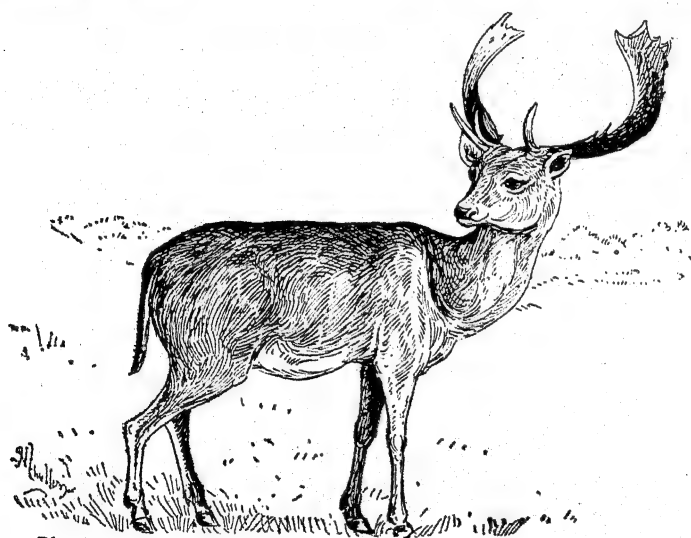
फैलो मृग

किनारों पर नन्हें उभाड़ होते हैं तथा आगे की ओर भूशृंग होते हैं। कंधे के निकट ३ फुट ऊँचाई होती हैं। इसका प्रसार भूमध्य-

सागर-तटीय देशों में हैं। पशुशालाओं में तो यह इंगलैंड तक देखा जा सकता है किन्तु प्रस्तरावशेषों द्वारा ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में इसका यथार्थतः मध्य तथा उत्तरी यूरोप और आयरलैंड तक प्रसार था।

कस्तूरी मृग

पर्या० नाम—कस्तूरी मुश्क (हि०), रौस, रूस, कस्तूरी (काश्मीर) ललाव (तिब्बत), रिबजो (लद्दाख). मुश्क नाम (पहाड़ी)

कस्तूरी मृग का आकार बहुत छोटा होता है। कन्धे के निकट इसका शरीर २६ इञ्च ऊँचा होता है किन्तु कमर के निकट इसका
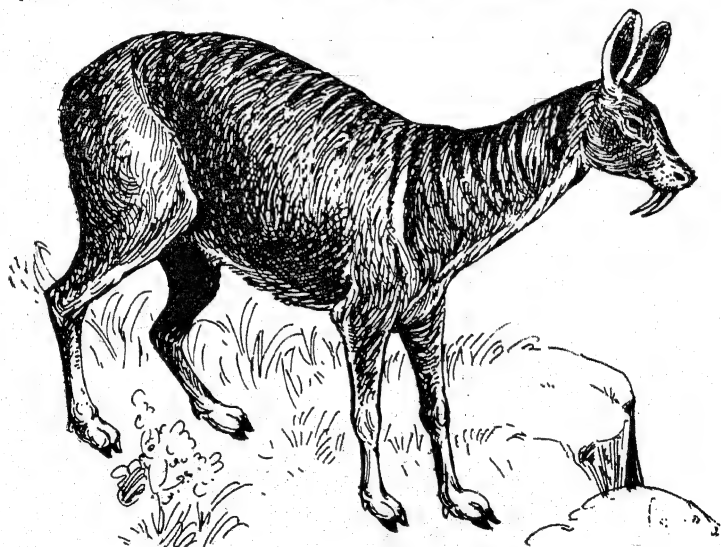
कस्तूरी मृग

शरीर अधिक उठा होता है। उस स्थल पर इसकी ऊँचाई २ फुट

होती है। इसके पैर, विशेषतया पिछले, अधिक लम्बे होते हैं। गुल्फ (टखने) के जोड़ पर विशेष झुकाव होता है, इस कारण ऊपरी खुर भी जो अन्य समांगुलीय या विषमांगुलीय पशुओं की अपेक्षा बड़े होते हैं, भूमि स्पर्श करते हैं। इस कारण दो खुरों के स्थान पर पिछले पैरों में प्रत्येक में चार खुर एक पैर में भूस्पर्शी होते हैं। शरीर पर लम्बे तथा मोटे बाल होते हैं। किन्तु बराबर लम्बाई
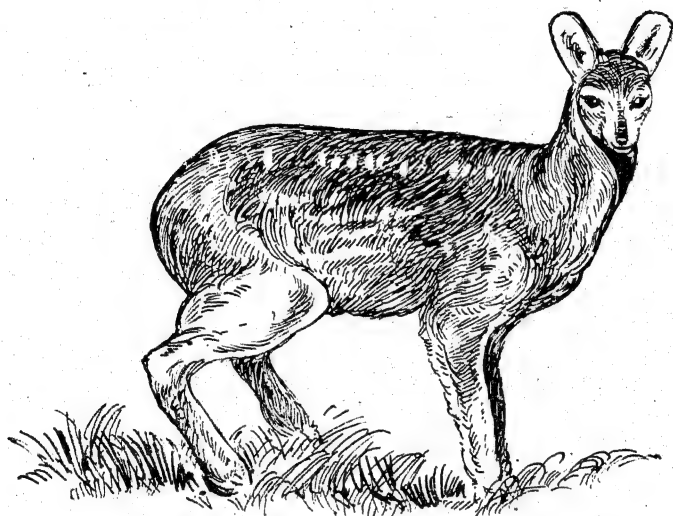
अल्पवय हिमालय कस्तूरी मृग

होने के कारण बालों को ऊपर से स्पर्श करने पर नर्म तथा लचकदार तह सा अनुभव किया जा सकता हैं किन्तु बाल पृथक रूप में मोटे और कड़े ही होते हैं। पूँछ नम्र रूप की और दो इञ्च लम्बी होती है। केवल नर में उसकी छोर पर बालों का छोटा गुच्छ होता है। नर कस्तूरी मृग में कुकुरदन्ता (रदनक) भी बाहर

निकला होता है जो सींगों के अभाव में अस्त्र का काम देता है। इन रदनक दाँतों की लम्बाई तीन इञ्च तक होती है। उदर में कस्तूरी उत्पन्न होने वाली थैली होती है।

कस्तूरी मृग साधारण रूप में प्रचुर गहरे भूरे रंग का होता होता है। इस रंग की पृष्ठभूमि में धूसर (खाकी) रंग के धब्बे होते हैं।

कस्तूरी मृग का प्रसार-क्षेत्र मध्य तथा उत्तरी-पूर्वी एशिया का विशाल भूखंड है। इसकी एक जाति काश्मीर, नेपाल और सिक्किम में पाई जाती है। इसका आहार घास, लिचेन, पत्तियाँ, तथा फूल है।

कस्तूरी मृग का स्वभाव शशक समान होता है। यह एकाकी या जोड़े रूप में कहीं माँद या घास में छिपा पड़ा रहता है। यह समाजप्रिय नहीं होता। यह पर्वतीय स्थलों में चीड़ के जंगलों के क्षेत्र की अंतिम सीमा के ऊपर भोजपत्र के बनों के क्षेत्र में पाया जाता है। कभी-कभी नीचे भी उतर आता है। किन्तु सदा घनी हरियाली की आड़ में रहता है। तीव्र ढाल के स्थलों पर घास-पात में छिपे रह कर जीवन व्यतीत करता है। अपने विश्राम के लिए छिछला गड्ढा सा बना लिए होता है और वहाँ से प्रातः सायं ही चारा खाने बाहर निकलता है। इसके पैरो में चार खुरों का शिकंजा सा बना होता है जो इसे दुर्गम पर्वतखंडों की निरापद यात्रा कर सकने में समर्थ बनाता है। इसके नर के भी मांस में कस्तूरी की बास नहीं आती और वह सुस्वादु होता है। अतएव आखेटकों का यह प्रिय जंतु है।

कस्तूरी मृग के जोड़े वर्ष के प्रारंभ में जनवरी मास में बनते हैं और १६० दिन गर्भ धारण किए रहने के पश्चात् माता की कोख से शिशु उत्पन्न होता है। इसलिए जून मास में कस्तूरी मृग संतानो-

त्पादन करता है। साधारणतः एक शिशु मृग ही उत्पन्न होता है, परन्तु कभी-कभी दो शिशु मृग भी उत्पन्न होते हैं।

कस्तूरी मृग अन्य रंगों का भी होता है। कभी-कभी नीचे तथा ऊपर थोड़ी रंग-विभिन्नता के साथ पूर्ण श्वेत, काला या नारंगी रंग की पुट युक्त या धूमिल चित्रित होता है। अधिकांश मृगों की भाँति इसके शिशु का भी रंग प्रमुख रूप से चित्रित होता है।

अन्य मृगों से कस्तूरी मृग की विशेषता शृंगहीन होना तो है ही परन्तु दूसरी विशेषता यह है कि अन्य मृगों में जहाँ मुख-ग्रंथि होती है, वहाँ कस्तूरी मृग में उसका अभाव होता है। इसमें पित्ता-शय होता है किन्तु अन्य मृगों में उसका अभाव होता है। यह उल्लेखनीय बात है कि खोखलो सींग (अस्थिगर्भी शृंग) के सभी जंतुओं में पित्ताशय होता है।

मुंडी वंश

मुंडी या मूषक मृग (हिरनमूसा)

स्था० नाम—पिसारी, पिसोरा, पिसई (हि०) मुगी (मध्यभारत) तुरीमाऊ (गोंड०), जित्रीहरण (वंग०) गंदवा (उड़ि०), कुरुपंडी (तेल०), कुरमपंडी (तामि०), कूरपंडी (कन्न)

मूषक मृग या हिरनमूसा की लंबाई डेढ़ फुट (१८ इञ्च), तथा कंधे के निकट ऊँचाई एक फुट होती है। पिछाड़ी की ओर कुछ अधिक ऊँचा होता है। दुम बहुत छोटी होती है। उसकी
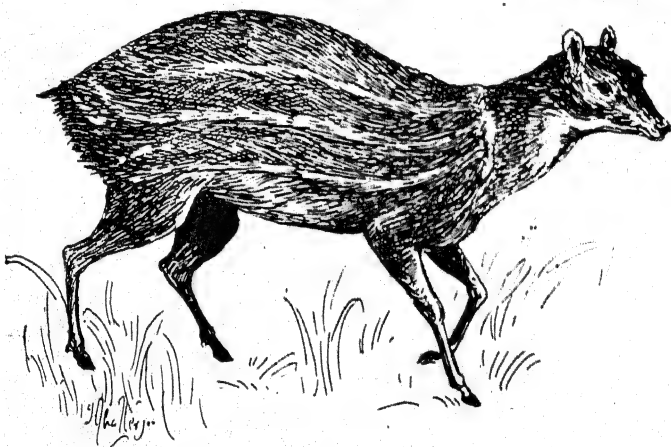
मूषक मृग (हिरनमूसा)

लम्बाई सिर की लंबाई के आधे से भी कम होती है। कंठ तथा पैर के पिछले भाग बालोंयुक्त होते हैं। पार्श्वभाग में हल्के-पीले या श्वेत

रंग के लम्बोतरे धब्बे लंबी पट्टी बनाये होते हैं। अधोतल श्वेत होता है। कंठ में तीन श्वेत पट्टियाँ होती हैं।

मूषक मृग या हिरन-मूसा का प्रसारक्षेत्र सिंहल तथा दक्षिण भारत में ६००० फुट ऊँचाई तक के स्थान हैं। २४° अक्षांश इसके प्रसारक्षेत्र की उत्तरी सीमा कहा जा सकता है।

मूषकमृग एक क्षुद्रकाय जन्तु है। इसके दुबले-पतले पैर होते हैं। छोटे आकार और लज्जालुवृत्ति के अतिरिक्त इसके शरीर का रंग वातावरण के रंग में छिप सकने योग्य होता है। अतएव यह कठिनाई से दिखाई पड़ता है किन्तु पालतू बनाया जाने पर घरों में घूमता-फिरता रहता है। ये अँगुलियों की नोक पर इस प्रकार चलते हैं जिससे जान पड़ता है कि हवा के झोंके से उड़ जायँ। किन्तु इनको अपने पैर इतने कड़े रखकर चलता देखा जाता है कि उसमें जोड़ न होने का भ्रम हो जाता है।

मूषक मृग घास आच्छादित पहाड़ी ढालों या जङ्गलों में छिपा पड़ा रहता है। दिन की धूप के समय पर्वतीय कोटरों में दुबका पड़ा रहता है। शीतकाल के प्रारम्भ या वर्षा के अन्त में इन्हीं पर्वत-कोटरों में वह सन्तानोत्पादन करता है। इसी समय इसके जोड़े मिलते हैं अन्यथा एकाकी रहता है। कहा जाता है कि पतझड़ के समय यह बाहर नहीं निकलता। उसे भय रहता है कि सूखे गिरे पत्तों में इसके पैर के क्षुद्र खुर फँस जाने से इसका चलना-फिरना दूभर न हो जाय। कुत्तों द्वारा पीछा किये जाने पर यह खोखले तने के वृक्षों के कोटर में ऊपर चढ़ जाता है।

मूषक मृग या हिरनमूसा इतना क्षुद्रकाय होने पर भी समांगुलीय या ढोर, हिरण, आदि की तरह पैर में चिरे हुए खुर रखता है। चिरे खुरों का यह सबसे छोटा जन्तु होता है। जुगाली करने वाले जन्तुओं में आमाशय के चार खंड होते हैं, परन्तु मूषक मृग

के आमाशय में तीन खंड ही होते हैं। उनकी भाँति इसके ऊपरी जबड़े में सामने के दाँत (कर्तनक) नहीं होते। प्रत्येक पैर में चार यथेष्ट विकसित खुर होते हैं। पार्श्व के खुरों में अस्थियों की रचना पूर्ण रहती है जिनमें दो ही खुर होते हैं। उनके अन्य अतिरिक्त खुरों में या तो कुछ अस्थियाँ ही नहीं होतीं या उनका बहुत कम विकास हुआ रहता है। इसके सींग भी विकसित नहीं होती। कस्तूरी मृग की भाँति उसमें लम्बोतरे रदनक दाँत बाहर निकले होते हैं जो कुछ रक्षा का कार्य कर सकते हैं।

मलाया मूषकमृग की दो जातियाँ मलाया में पाई जाती हैं, (१) दीर्घमलाया मूषकमृग तथा (२) क्षुद्र मलाया मूषक-मृग। दीर्घ मूषकमृग की लम्बाई २८ इञ्च तथा ऊँचाई १३ इञ्च होती है किन्तु क्षुद्र मूषकमृग की लम्बाई थूथन के सिरे से लेकर दुम की जड़ तक १८ इञ्च से अधिक नहीं होती।
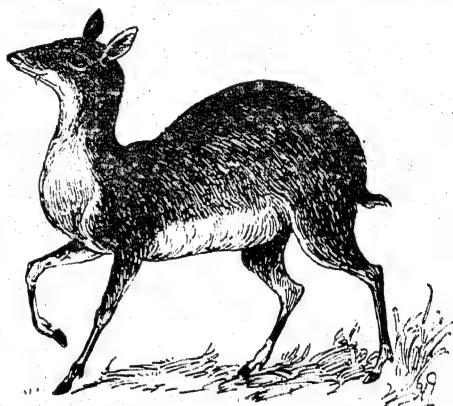
दीर्घ मलाया मूषक मृग

इसमें कंठ पर तीन श्वेत धारियाँ होती हैं, किन्तु दीर्घमलाया मूषक-मृग के कंठ में पाँच श्वेत धारियाँ होती हैं। दोनों जातियाँ तना-सरिन पहाड़ी के जङ्गलों में पाई जाती हैं।

उष्ट्र वंश

संसार भर में ऊँट की दो जातियाँ पाई जाती हैं। एक तो एक कोहान की, जो अरबी जाति कहलाती है। दूसरी दो कोहान की जो बैक्ट्रियन जाति कहलाती है। अरबी ऊँट का संसार के अधिक क्षेत्रों में प्रसार है। यह पालतू जानवर ही हैं। अब कहीं भी जंगली ऊँट नहीं पाया जाता। इसका प्रसार अरब, उत्तरी अफ्रीका, तथा भारत में हैं। इसे पालने में कुछ थोड़ी बहुत सफलता आस्ट्रेलिया और उत्तरी अमेरिका में मरु क्षेत्रों में हो सकी है। दूसरी जाति का ऊँट मध्य एशिया में पाया जाता है।

अरबी ऊँट एक बेडौल आकार का जन्तु है। इसकी ऊँचाई सात फुट होती है। इसके लंबे पैर और गर्दन से शरीर विद्रूप दिखाई पड़ता है। पीठ के ऊपर ऊँचा कूबड़ या कोहान उसके रहने-सहने के प्रकार के अनुसार छोटा या बड़ा होता है। जब आहार का अभाव होता है या उसको घोर परिश्रम करना पड़ता है तो उसके कोहान का ह्रास होने लगता है। उसकी रचना त्वचा के नीचे केवल चर्बी से ही हुई होती है। शरीर में आहार द्वारा अधिक वसा (चर्बी) की प्राप्ति न होने या संचित भंडार या भोजन से प्राप्त मात्रा से अधिक व्यय होने का अवसर होता है तो चर्बी की वह ढेरी लुप्त होने लगती है। उसे छोटा तथा नर्म रूप धारण करते पाया जा सकता है परन्तु कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि कोहान का सर्वथा ही लोप हो जाय किन्तु विश्राम मिलते ही तथा

पुनः यथेष्ट आहार प्राप्त करने का अवसर आते ही वसा (चर्बी) पुनः एकत्र होकर कोहान का रूप पुष्ट करने लगती है। वह वसा की वृद्धि से बड़ा बनकर कड़ा रूप फिर धारण कर लेता है।

ऊँट की चित्तवृत्ति भी उसके बेडौल रूप के अनुसार ही अविश्वसनीय होती है। उसे कभी भी स्वामिभक्त तथा पालतू मानने की भूल नहीं की जा सकती। इसकी वृत्ति सदा ही ईर्षालु और बदला लेने की रहती है। गर्भाधान की प्रवृत्ति उत्पन्न होने के समय में तो नर ऊँट अकस्मात् भयानक प्रहार कर परस्पर संघर्ष करने लगते हैं। वे मनुष्य पर भी ऐसी दशा में घातक प्रहार कर सकते हैं।

ऊँटों में बुद्धि का तो बिल्कुल ही अभाव सा होता है। अश्व, कुत्तों तथा हस्तियों समान विवेक उसमें पाना असंभव है। किन्तु पालतू न बनाए जा सकने पर भी वह इतना मूर्ख होता है कि जंगली नहीं बन सकता। यह किसी निर्जीव यंत्र की तरह क्रियाशील रह सकता है। किसी ओर चलना प्रारंभ करने पर वह सीधे एक ही दिशा में घंटों चला ही जाता है। यदि कहीं भूल से मार्ग में किसी कटीली झाड़ी की हरियाली देखकर उसे खाने के लिए मार्ग से किसी ओर घूम पड़ना है तो फिर दुबारा चलना प्रारंभ करने पर इस पथच्युत नई दिशा में ही सीधे बढ़ा चला जाता है। कदाचित उसे यह अनुभव नहीं हो पाता कि वह रास्ते से भटक कर दूसरी दिशा में आ गया है।

ऊँट को मरुभूमि का विमान या जलयान कहा जाता है। यह उक्ति सर्वथा सार्थक है। मरुभूमि की अवस्थाओं के लिए वह सर्वथा उपयुक्त जंतु होता है। पैरों की ही बनावट देख लीजिए। उसके पैर में दो खुर या नख से होते हैं जिनके साथ वृहदाकार मांसल गद्दी लगी होता है। जब वह मरुस्थल में पैर रखता है

तो बालू के ऊपर उसके पैर की पादांगुलियों या खुरों से संलग्न गद्दियाँ बालू के ऊपर फैल जाती हैं और उसके पैर को नीचे धसने नहीं देती। यदि ६, १० मन का बोझा भी लदा हो तब भी पैर नहीं धसते, परन्तु घोड़े पर तो इतना बोझ लदने पर पैर बालू में गहराई तक धँस जाय।

ऊँट की लंबी गर्दन भी कम उपयोगी नहीं होती। निर्जन मरुस्थल में वह अपनी ऊँची गर्दन की सहायता से दूर तक दृष्टि ही नहीं डाल सकता, बल्कि कँटीले वृक्षों की पत्तियाँ भी नोच खा सकता है। काँटों से बचने के लिए उसके मुख में उपास्थि (कार्टि-लेज) उत्पन्न हो गई होती है जिस पर कटीलेपन का प्रभाव नहीं पड़ता और वह काँटों के बीच उगी पत्तियों को भी खा जाता है। धूप की तीव्रता का भी उसके ऊपर प्रभाव नहीं होता। यदि धूप में चलते-चलते विश्राम करना है तो वह छाया न ढूँढकर धूप में निश्चिन्त बैठ जाता है। धूप की चमक से रक्षा करने के लिए उसके विशाल नेत्र ऊपर के लम्बोतरे पलकों से आच्छादित होते हैं।

ऊँट के कानों के रंध्र छोटे होते हैं। परन्तु नासिका बड़ी होती है। यह उन्हें उड़ते हुए बालू से बचाने के लिए इच्छानुसार बंद कर सकता है। मरुभूमि की स्थिति में रहने के लिए शरीर के अंगों का इन रूपों में विकास प्रकृति की अद्भुत देन होती है। जब बालू की भारी आँधी बह उठती है तो ऊँट अपनी गर्दन भूमि पर कर तथा आँख, नाक आदि बंदकर बैठ जाता है। उसका स्वामी कोई अन्य चारा न देख कर उसके पीछे वायुवेग की उल्टी दिशा में बैठ जाता है।

मरुभूमि में ऊँट कई दिन तक निर्जल चल सकता है। उसका आमाशय मधुमक्षिका के छत्ते की भाँति बहुसंख्यक प्रकोष्ठों में विभाजित रहता है। उन प्रकोष्ठों में ही वह जल संचित रखता

है। इनको जलपूर्ण रखकर वह कई दिनों तक बिना पानी पिए ही चल सकता है। पीठ पर ८, १० मन या अधिक बोझ लाद कर २५ मील प्रति दिन के हिसाब से तीन दिन तक बिना पानी पिए चल सकता है।

सवारी का ऊँट यदि पुष्ट रूप का हो तो मरुभूमि के शिथिल बालुओं के ऊपर पाँच दिन तक बिना पानी पिये चल कर अक्लांत रह सकता है। एक विचित्र बात यह भी है कि ऊँट ऐसे पानी को भी पी सकता है जो मनुष्य के लिए सर्वथा अग्राह्य हो। ऐसे मैले पानी को पीकर भी वह मधुर दूध उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार तो इसे एक विलक्षण छनना कह सकते हैं जिसके द्वारा विषाक्त जल को उसके उदर द्वारा छनने का अवसर मिलने के पश्चात् उसके दूध को ग्रहण करना संभव हो सकता है। जल के अभाव के भूभागों में कितने ही यात्रियों की प्राण-रक्षा ऊँट से दूध प्राप्त कर हो सकी है। बहुत सी ऐसी कथाएँ सुनने को मिलती हैं कि यात्रियों ने जलाभाव के स्थान में मरुभूमि की किन्हीं लम्बी यात्राओं में ऊँट के पेट को चीर कर जल प्राप्त किया और अपनी तृषा बुझा कर प्राण-रक्षा की। परन्तु ऐसी कथाएँ सर्वथा निराधार ही हैं। ऊँट के उदर में संचित जल मनुष्य के लिए ग्राह्य नहीं हो सकता।

ऊँट के कूबड़ या कोहान की विचित्र उपयोगिता होती है। इसी की सहायता से वह कई दिन तक निराहार रह सकता है। इसका कोहान वसा निर्मित होता है। अतएव आहार की न्यूनता होने पर कोहान ही पोषक पदार्थ प्रदान करता है और स्वयं सिकुड़ जाता है। आहार पुनः प्राप्त होने पर वह क्षतिपूर्त्ति कर लेता है। उसका कोहान फिर पूर्ववत हो जाता है। इसका संचित भंडार भविष्य की किसी दूसरी खाद्याभाव की घड़ी में सहायक होने के

लिए प्रस्तुत रहता है। अतएव पीठ का विकृत रूप प्रदर्शित करने वाला कोहान केवल दिखावटी वस्तु नहीं, बल्कि उद्देश्यपूर्ण होता है।

ऊँट का आहार मरुभूमि की झाड़ियाँ तथा पेड़ों के पत्ते हैं। इसकी आयु लगभग ४०-५० वर्ष होती है। नवजात ऊँट जन्म के
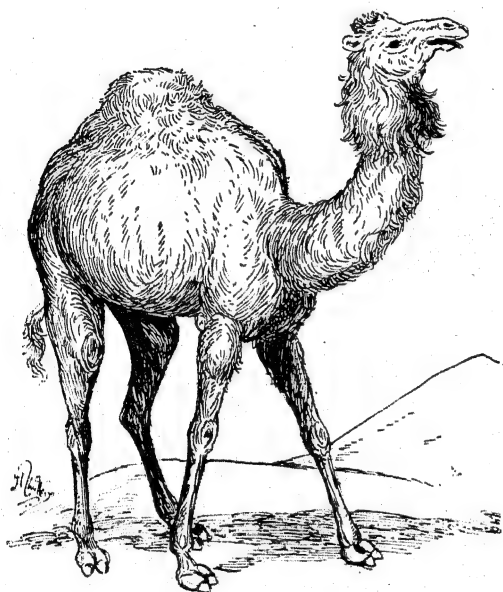
एक कोहान का ऊँट

आठ दिन बाद ही तीन फुट ऊंचा होता है, परन्तु वह असहाय ही होता है। उसकी सतत सहायता तथा रक्षा की आवश्यकता होती है। सोलह-सत्रह वर्ष बीत जाने के बाद कहीं वह प्रौढ़ हो पाता है। ऊँटनी एक बार में एक ही बच्चा देती है।

अरब में तो ऊँट से हल चला कर खेती की जाती है किन्तु अन्य देशों में यह मरुस्थल या अन्य स्थलों में भी भारवाहन तथा सवारी का काम करता है। इसका दूध भी पौष्टिक होता है। ग्रीष्म काल में खानाबदोश अरब जब कहीं जलाशय से दूर डेरा डाले पड़े होते हैं तो ऊँट का दूध ही उन्हें जीवित रखता है।

ऊँट के बाल प्रति वर्ष ग्रीष्म काल में उतार लिए जाते हैं। उससे दुशाले, रस्सियाँ आदि बनाई जाती हैं। ब्रश भी बनते हैं। मरने पर चमड़ा अनेक उपयोगों में आता है। इसका मांस भी खाद्य होता हैं। यहाँ तक कि ईंधन के अभाव वाले प्रदेशों में इसकी लीद भी सुखा कर घरों में चूल्हे में जलाई जाती है। यह एक मरुस्थलीय सर्वोपयोगी जंतु है। इसकी हड्डियाँ तक कभी-कभी हाथी-दाँत की जगह कुछ उपयोगों में आती हैं।

दो कोहानो या कूबड़ों का ऊँट बैक्ट्रियन कहलाता है। यह सारे मध्य एशिया के विस्तृत भूभागों में दक्षिण साइबेरिया के शीत स्थल से लेकर क्रिमिया तक पाया जाता है। अरबी ऊँट से इसका रूप कुछ भिन्न होता है। बाल बड़े लम्बे उगे होते हैं जो प्रति वर्ष ग्रीष्म में झड़ जाते हैं। यह ऊँट अरबी ऊँट की अपेक्षा डीलडौल में छोटा किन्तु अधिक पुष्ट होता है। पीठ पर दो कोहान होते हैं। यह पूर्ण पालतू नहीं है। जंगली अवस्था में भी मध्य एशिया के मरुस्थलों में झुण्ड रूपों में पाया जाता है।

बैक्ट्रियन ऊँट के पैर छोटे होते हैं। इससे उसको सुविधा ही होती है। वह पथरीले और पहाड़ी स्थानों का निवासी है। अतएव छोटे पैरों से उसे ऐसे विषम कठोर धरातलों पर चलने में सुविधा होती है। यह बड़ा पेटू जंतु होता है। यह स्टेपी मैदानों के नमक तथा कटु वनस्पतियों को आहार बना लेता है जिन्हें कोई भी अन्य पशु नहीं ग्रहण कर सकता। भूख अधिक लगने

या आहार का अभाव होने पर यह कोई भी वस्तु मुँह में पहुँचने पर खा सकता है। कोई भी वस्तु खाकर पचा लेने की शक्ति से इसका नाम वृकोदर रखना उपहास ही हो सकता है, क्योंकि वृक
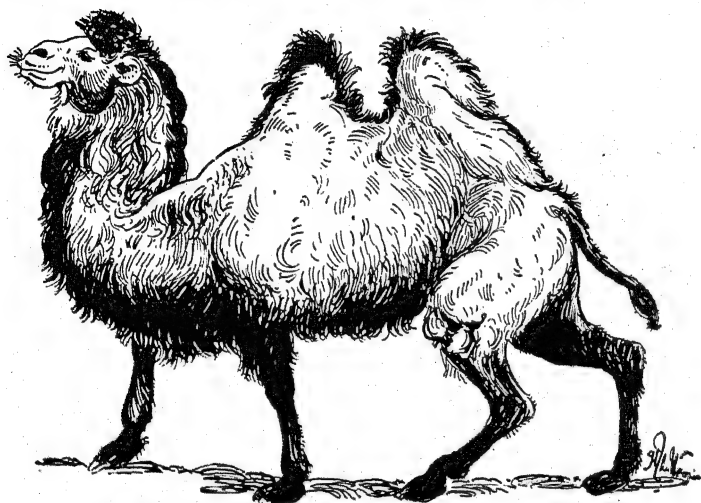
दो कोहान का ऊँट

(भेड़िया) उन वस्तुओं को नहीं पचा सकता जिसे यह डकार जाता है। यह तीखी घासों के अतिरिक्त मांस, हड्डी, जन्तुओं की त्वचा तथा अपने स्वामी के कम्बलों तक को खा जाता है।

ऊँट की एक जाति को साँडिनी कहा जाता है। यह नाम विशेषतया मध्य अरब के एक कोहान वाले ऊँट की ऐसी जाति को दिया जाता है जो दौड़ने में शक्तिशाली होती है। किन्तु दो कोहान वाले बैक्ट्रियन ऊँट की दौड़ने वाली नस्ल को भी यह नाम दिया जा सकता है। भारवाहक ऊँट की अपेक्षा

साड़िनी का शरीर अधिक सुडौल तथा हल्का होता है। यह बिना पानी पिए अपेक्षाकृत अधिक समय तक रह सकता है। एक पुष्ट साँड़िनी ऊँट प्रति दिन १०० मील की गति से बराबर सात दिन चलता रह सकता है। जब सवार को अल्पतम काल में कहीं जाना हो तो साँड़िनी पर सवार होकर वह साठ-साठ मील प्रति घंटे की चाल से निरंतर अठारह घंटे तक चलता रह सकता है। ऐसा साहसिक कार्य कोई भी अन्य पशु मनुष्य के लिए कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता।

ऊँट और लामा उष्ट्र वंश में सम्मिलित रूप में उष्ट्र वंश बनाते हैं। ये रोमंथक (जुगाली करने वाले) जंतुओं में ही गिने जाते हैं। रोमंथकों में उष्ट्र वंशीय जंतुओं की यह मुख्य विशेषता है, कि इनके सींग नहीं होती। इनके आमाशय के भी तीन ही खंड होते हैं। साधारण रूप के रोमंथकों में आमाशय के चार खंड होते हैं। ऊँट के आमाशय के तीन खंड जुगाली करने (रोमंथन) के संबंध में ही सहायता के लिए होते हैं। इनके ऊपरी जबड़े में काटने वाला दाँत (कर्तनक) होता है। किन्तु उसकी पूर्ण श्रेणी केवल अल्पायु में ही होती है। युवा में केवल एक जोड़े कर्तनक ही रह जाते हैं। शेष गिर जाते हैं। रदनक या कुकर-दंते भी अपनी विचित्र स्थिति प्रकट करते हैं। निचले जबड़े में रदनक दाँत कर्तनक दाँतों से बड़ी दूर पर स्थित होते हैं। बीच में लंबा रिक्त स्थान रहता है।

ऊँटों में दो से अधिक कोहान कभी नहीं होते। पहले लोगों का विश्वास था कि कोहानों में पानी का संचित भंडार होता है, परन्तु पानी संचय करने का स्थान तो आमाशय के तीन खंडों में से एक में मधुमक्खी के छत्ते के समान प्रकोष्ठों में ही होता है। कोहान तो एक या दो हो, वसा के संचय भंडार ही होते

है। अन्य पशुओं में भी संकट काल के लिए वसा सुरक्षित रखने की व्यवस्था पाई जाती है, परन्तु उनके वसा का संचित भंडार प्रायः सारे शरीर में फैला पड़ा रहता है। अरब के लोग अपने ऊँट को लंबी यात्रा पर ले जाने के पूर्व देख लेते हैं कोहान की क्या अवस्था है। उसके कड़ापन तथा दीर्घता को देखकर उन्हें अनुमान हो सकता है कि लंबी यात्रा पूर्ण कर सकने की कितनी शक्ति उसमें हैं। ऊँटों में मरुभूमि सरीखे बीहड़ स्थलों के लिए चर्बी रूप में संवल जुटाने का अद्भुत विधान प्रकृति द्वारा प्रदत्त होता है।

लामा को कोहानहीन ऊँट कहना चाहिए। उनका प्रसार केवल दक्षिणी अमेरिका में पश्चिमी तथा अन्तिम दक्षिणी छोर तक है। इसकी दो पालतू तथा दो जंगली जातियाँ पाई जाती हैं। यथार्थतः लामा इसकी एक पालतू जाति का ही है। ये जन्तु ऊँटों से संबंधित तथा एक पूर्वज से उत्पन्न हैं।

विकूना तथा ग्वानाको लामा या ऊँट के वन्य प्रतिनिधि हैं। इनमें ग्वानाको का अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। यह वन्य तथा पालतू दोनों ही अवस्थाओं में इक्वेडर में तथा दक्षिणी अमेरिका के सारे पश्चिमी भाग में टियरा डेल फ्यूगो तथा पेटेगोनिया तक पाया जाता है।

पशुओं पर स्थितियों के अनुसार विकास का प्रभाव पड़ने का सुन्दर उदाहरण इन जन्तुओं में पाया जाता है। पूर्वी गोलार्द्ध के ऊँटों की अपेक्षा इन्हें जीवन की विषमता का सामना बहुत कम ही पड़ा होगा। कदाचित् इनके पूर्वजों का जीवन सुखमय ही बीतता रहा। इस कारण शरीर में विपत्तिकाल के लिए विशेष खाद्य वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऊँटों की तरह इन्हें पीठ पर चर्बी के भंडार रूप में बेडौल कोहान रखने की कभी भी आवश्य-

कता नहीं हुई। पानी की न्यूनता का भी सामना नहीं करना पड़ा। ग्वानाको के पीठ पर कूबड़ या कोहान नहीं पाया जाता। उसके
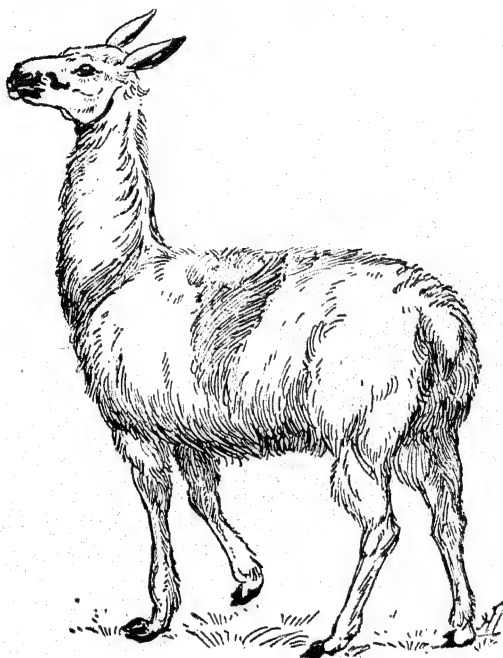
ल म।

पैर भी दूसरे रूप के होते हैं। इसके पूर्वज अगणित शताब्दियों से पर्वतों में रहते आए हैं। अतएव इनके पैरों की रचना पहाड़ों के ऊपर वेग तथा विश्वासपूर्वक रख सकने के लिए, ऊँटों के चौड़े गद्दीदार पैरों के स्थान पर छोटी गद्दियों तथा खुर से अधिक समानता रखने वाले नखयुक्त होते हैं। अतएव ये ढालू पर्वतों पर भी चढ़ जाते हैं। ऊँट का उन पर चढ़ना सर्वथा कठिन होता है।

ग्वानाको ऊँट से छोटा भी होता है। कंधे के निकट चार फुट ऊँचा होता है।

ग्वानाको दस से लेकर तीस तक के झुण्ड में रहता है किन्तु कभी-कभी सैकड़ों की संख्या में बड़े झुण्ड भी दिखाई पड़ते हैं जो वन्य रूप में पहाड़ों के ऊपर घूमते रहते हैं। वन्य ग्वानाको बड़ा डरपोक पशु है। शिकारियों से घिरने पर हक्का-बक्का-सा रह जाता है और सहज ही बहुसंख्यक बध किया जाता है किन्तु पालतू ग्वानाको में डरपोकपन परिवर्तित होकर साहस का रूप धारण कर लेता है। वह आदमी पर अपनी दुलत्तियाँ झाड़कर चोट कर सकता है। यह पानी में भलीभाँति तैर सकता है। कभी-कभी समुद्र पार कर एक द्वीप से दूसरे द्वीप तक जा पहुँचता है। किन्तु ऊँट के सम्बन्ध में तो यह उक्ति ही प्रसिद्ध है—

'जितना लादो उतना लें, पानी में इक पैर न दें।'

लादने में वीर होने पर भी वह पानी में एक पग भी रखने का साहस नहीं करता। किन्तु यह जनश्रुति ही है। वास्तव में ऊँट जल से भागता है किन्तु उसमें थोड़ा बहुत तैर सकता है।

वन्य लामाओं में से विकूना का आकार ग्वानाको से छोटा होता है। यह पेरू की पर्वतमालाओं में झुंड रूप में रहता है। आर्द्र-काल में पहाड़ की चोटियों पर स्थायी हिमराशि के निकट रहता है। शुष्ककाल में ऊँची घाटियों में उतर आता है। उनको पकड़ना बड़ा कठिन कार्य है। वे दुर्गम स्थानों में निवास करते हैं। वे बड़े ही लज्जालु और चैतन्य होते हैं। उनका शरीर लम्बे कोमल ऊन से आच्छादित रहता है जिसकी बुनाई में विशेष माँग होती है।

शिशु विकूना उल्लेखनीय है। वह जन्म धारण करते ही दौड़ने लगता है। उसमें असीम सहनशक्ति होती है। इसके विपक्ष ऊँटों

के शिशुओं का अत्यधिक असहाय रूप में होना एक वंश के ही जन्तुओं में घोर विरोधाभास है।

विकूना के अत्यन्त सजग होने के कारण मूलवासी उसे पकड़ने के लिए विचित्र व्यवस्था करते हैं। कदाचित् आधे मील घेरे का बाड़ा बनाया जाता है जिसमें वे भागकर पहुँचाये जाते हैं। बाड़े के घेरे में छोटी-छोटी रंगीन झंडियाँ लटका दी जाती हैं जिनके फहराते रहने से विकूना कुछ चकित से होकर तोड़ कर भागने का प्रयत्न नहीं करते।

ग्वानाको सुन्दर मेहराबदार गर्दन तथा लंबे पैरों का जन्तु है। भयग्रस्त होने पर इसका व्यवहार विचित्र होता है। एक समय वे संकट की सूचना के लिए शब्द करते हैं और शत्रु द्वारा फंदे में पड़ने के पहले ही दूर निकल जाते हैं। कभी-कभी उनमें कौतूहल-वृत्ति उत्पन्न होती है जिससे उनके प्राण चले जाते हैं। मान लीजिये कि कोई आदमी भूमि पर लेट कर अपने पैर ऊपर आकाश की ओर नचा रहा है। उसे देखने के लिए कौतुकवश वे निकट आ जायँगे। ऐसा खेल बारबार कर उन्हें भुलावे में रखकर गोली का शिकार बनाना संभव होता है। ये बड़ी ही आसानी से पालतू बनाये जाते है। पालतू रूप में ये खुले ही बस्ती में रहते हैं और अपनी रक्षा दुल्लती मार कर करते हैं। परन्तु वन्य रूप में इनके पास रक्षा का कोई साधन नहीं। शिकारियों की पहुँच के पहले अकेले 'शिकारी कुत्ते द्वारा ही ये बध कर दिये जा सकते हैं। झुण्ड रूप में ये भेड़ों की भाँति रहते हैं। जब कई दिशाओं से घुड़सवार शिकारी आते दिखाई पड़ते हैं तो वे भौचक्के से रह जाते है और भागने की कोई दिशा निश्चित नहीं कर पाते। अतः इनका बध सुगम होता है। बैक्ट्रियन ऊँट की तरह ग्वानाको भी खारा पानी पी सकता है।

एक विचित्र बात देखी जाती है। ग्वानाको जब मृत्यु की घड़ी आने का अनुभव करते हैं तो वंश के विशेष मरणस्थल में चले जाते हैं। वहीं उनकी मृत्यु होती है। डार्विन ने लिखा है, "ग्वानाको एक विशेष स्थल में ही मरते जान पड़ते हैं। सेंट क्रुज के किनारों पर कुंजों से युक्त एक गोल स्थान में अस्थियों के संचय से श्वेत रंग हो गया था। वहाँ पर मुझे दस से लेकर बीस तक खोपड़ी दिखाई पड़ी। अधिकांश स्थितियों में ये जन्तु मरने के पूर्व रेंग कर कुञ्जों में पहुँचे जान पड़ते हैं।"

लामा इस नाम के जन्तुओं में से पालतू नस्ल का पृथक् नाम भी है। दो पालतू नस्लों में से एक लामा है तथा दूसरी अल्पाका कहलाती है। ये दोनों ग्वानाको की ही संतान हैं। लामा ग्वानाको से कुछ बड़ा होता है। उसके रंग भी विभिन्न होते हैं। प्राचीन पेरू वासी इसे सवारी तथा भारवाहन के लिए पालते थे। स्पेन-वासियों के पूर्व वे इनकी भारी संख्या रखते थे। स्पेन द्वारा विजित होने के ही बाद ३०० से ५०० या १००० तक संख्या के लामा के झुण्ड चाँदी की बहुसंख्यक डली लादे चलते दिखाई पड़ सकते थे। इतने भारी दल को एक मूलवासी ही अपने नियंत्रण में रख सकता था। केवल नर लामा बोझा ढोने तथा सवारी के काम आते। मादा लामा दूध देने और मांस प्राप्त करने में उपयुक्त होती। बोझा ढोने वाले लामाओं का दल एक पंक्ति ही बना कर चलता और इस प्रकार कार्डिलरा के ऊँचे से ऊँचे दर्रे और विषम से विषम पर्वतीय मार्ग एक नेता के ही पथ-प्रदर्शन द्वारा पूर्ण सुरक्षा से पार कर लिए जाते। स्पेनवासियों ने भी इसके मांस को ही रुचिकर नहीं समझा बल्कि भारवाहक रूप में पूर्ण प्रयोग किया। अकेले पोटोसी खदान के उत्पादनों को ढोने के लिए तीन लाख लामा पशु उपयुक्त होने लगे थे।

अल्पाका अपने भव्य ऊन के लिए ही प्रसिद्ध है। उसका ऊन बहुत लम्बा और बारीक होता है। उससे अल्पाका नाम का प्रसिद्ध वस्त्र बुना जाता है। बोलनिया तथा दक्षिणी पेरू में ऊँचे स्थलों पर अल्पाका का झुण्ड पाला जाता है। वहाँ से प्रतिवर्ष नीचे पहुँचा कर इसका ऊन उतारा जाता है। इंका लोग इसके ऊन को रंग सकते थे। एक ऊन मोटा होता है दूसरा बारीक। वे इसे चटकीले रंग में रंगकर ऊनी वस्त्र या कम्बल रूप में बुन लेते थे। अल्पाका में एक विचित्र दुर्गुण यह देखा जाता है कि वह जिस व्यक्ति से रुष्ट होता है उस पर मुँह से अपना बदबूदार थूक फेंकता है। अपने सवार से थकान के कारण रुष्ट होने पर उलटा मुँह कर उस पर थूक देता है। बोझा ढोने से थककर बैठ जाने पर मारने-पीटने या किसी भी ढंग से इसे उठाया नहीं जा सकता। यह मक्का थोड़ी मात्रा में खाकर चार-पाँच दिन तक बिना पानी पिये या खाए चल सकता है।

वाराह वंश

वाराह या शूकर वंशीय जोड़े खुरों वाले (सम शफीय या समांगुलीय) जन्तु अवश्य हैं किन्तु रोमंथक (जुगाली करने वाले) नहीं होते। मुख नोकीला होता है। गतिशील थूथन के ठूठनुमा नग्न छोर पर नासिका स्थित होती है। पैर पतले होते हैं। प्रत्येक में चार पादांगुलियाँ होती हैं जिनमें केवल मध्यवर्ती दो पादांगुलियाँ ही भूमि स्पर्श करती हैं। इनका प्रसार सारे संसार में केवल आस्ट्रेलिया क्षेत्र को छोड़कर है। उस क्षेत्र में भी न्यूगिनी में प्रसार पाया जाता है। ये दलदली वृक्षाच्छादित भूमि पसंद करते हैं। एक बार में बारह तक शिशु उत्पन्न होते हैं। ग्रामीण सूअर तो इससे भी अधिक संतान उत्पन्न कर सकता है। इस वंश में अनेक जातियाँ है जिनमें शुद्ध शूकर, नदी शूकर (रिवर हाग), वन शूकर (फारेस्ट हाग), मासावुर्दीय शूकर (वार्ट हाग) तथा ऊर्ध्वदन्ती शूकर (बेबिरुस्सा) प्रसिद्ध हैं।

मनुष्य का अत्यन्त बुद्धिहीन तथा अवहेलित रूप प्रकट करने के लिए उसे 'सूअर' शब्द से पुकारा जाता है। किन्तु इस धारणा का जो भी कारण है, यह विचित्रताओं से शून्य जन्तु नहीं है। हिन्दुओं में तो बाराह को ईश्वर का अवतार बनाकर इसका सम्मानित रूप भी प्रदर्शित किया गया है। सभी देशों में प्राचीन काल से ही इतिहास में इस जंतु का नाम मिलता है। अन्य वन्य पशु तो बस्तियाँ बढ़ते जाने से अपना प्रसार क्षीण करते गए परन्तु शूकर

तो इतना हठी और साहसी जन्तु है कि मनुष्य की बस्तियाँ फैलने की कुछ भी चिन्ता न कर आज भी टिका हुआ है। इस स्थिति को उत्पन्न होने में अनेक बातों ने योग दान दिया है। किन्तु उसके जीवित रह सकने का मुख्य कारण स्वयं यह पशु ही है। शूकर को मूर्ख और सुस्त पशु भले ही कहा जाय, परन्तु इसकी पुष्ट नस्लें अपना सुन्दर रूप भी प्रदर्शित करती हैं। यह वीर भी होता है और चालाक भी हो सकता है।

बनैला सूअर

कुछ जंगली सूअर मृग समान वेग वाले होते हैं। वे खुर वाले पशुओं में सबसे अधिक क्रियाशील तथा बहुधंधी पशुओं में गिने जा सकते हैं। यदि पालतू शूकर को भी बनैला बनने दिया जाय तो वह अपना जीवन-क्रम स्वयं सँभालने का अवसर पाकर अपने पूर्व स्वभावों को अर्जित कर लेता है। यह निडर तथा साहसी पशु होता है। केवल बनैला सूअर ही ऐसा पशु है जो बाघों के बीच जाकर पानी पी सकता है। यह सर्वभक्षी होता है। अतएव विषम ऋतु में भी भूखों नहीं मर सकता। यह अपने बहुसंख्यक परिवार को भी सुरक्षित छिपा रखने की विधि जानता है।

बनैला सूअर यूरोप, उत्तरी अफ्रिका एशियामाइनर और मध्य एशिया में पाया जाता है। भारतीय बनैले सूअर का यूरोप और अफ्रिका के बनैले सूअर से इस बात में भेद होता है कि उसकी पीठ पर लम्बे काले कड़े बालों की कलंगी होती है। आंतरिक रूप में यह योरोपीय बनैले सूअर के समान ही होता है। संसार भर में इन बनैले सूअरों का शिकार कर पौरुष प्रदर्शन की प्रथा रही है। आहत बनैला सूअर तो जान पर खेलकर सामना करता है। एक बनैला सूअर तो बर्छे द्वारा विद्ध कर दिए जाने पर दाँत से तीन

इंच लंबाई तक त्वचा में छेद होने के पश्चात् भी इतने वेग से उछला कि सवार जीन आदि सब कुछ दूर ही नहीं फेंका गया, बल्कि घोड़े की जान भी चली गई।

भली-भाँति आहार प्राप्त होने की ऋतु में एक पुष्ट बनैले सूअर का भार लगभग साढ़े तीन मन तक होता है उसके लम्बोतरे दाँत की लंबाई वक्रता की भी नाप करने पर ग्यारह इंच होती है। नवजात बनैले सूअर के शरीर पर लम्बाई की दिशा में पट्टियाँ होती है किन्तु पालतू बनाने पर वे लम्बी आड़ी पट्टियाँ लुप्त हो जाती हैं। किन्तु कहीं-कहीं पालतू रूप में भी शिशुओं में पट्टियों का कुछ चिन्ह पाया जाता है।

इंगलैंड में पहले बनैले सूअरों का बहुत प्रसार था किन्तु धीरे-धीरे उनका शिकार होते-होते लोप ही हो गया। अब पालतू रूप में ही पाए जा सकते हैं। इङ्गलैण्ड में लुप्त हो जाने पर भी फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस, स्पेन, यूनान, अल्बानिया तथा अन्य भूमध्य सागरी देशों में आज भी बहुसंख्यक पाया जाता है। योरप के अधिकांश में जंगल को घेरे में कर बनैले सूअर मारे जाते हैं, परन्तु काकेशस तथा काला सागर के चारों ओर के स्थलों में किसान आज भी फलदार वृक्षों पर बैठकर वर्षान्त ऋतु में प्रतीक्षा करते रह कर या उनके पानी पीने जाते समय मार्ग में एकाकी प्रयत्न से ही मार डालते हैं। स्पेन में कभी वीर घुड़सवार भाले लेकर बनैले सूअरों का शिकार किया करते थे, आज यहाँ भी बनैला सूअर जंगलों में विद्यमान है।

बनैले सूअर से बढ़कर साहसी अन्य कोई भी जन्तु नहीं होता। उसके मुख में लंबे तथा तीव्र बहिर्मुखी दन्त होते हैं जिनका भयानक प्रयोग करने में उसे तनिक भी हिचक नहीं होती। किन्तु घायल या उत्तेजित हो तब तो उसके प्रसार की भयानकता

अकल्पनीय हो सकती है। इस भयानक तथा हठी पशु का शिकार करने के प्रयत्न में कितने ही शिकारियों के प्राण जानने की घटना अनेक देशों में घटित पाई जा सकती है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें बनैले सूअर ने बाघ को पराजित कर दिया। कुछ घटनाएँ तो ऐसी भी हैं जिनमें सूअर द्वारा बाघ की मृत्यु हो गई। बनैले सूअर के पैने दाँत तथा असाधारण स्फूर्ति के कारण बाघ की प्रतिद्वन्दिता कठिन कार्य नहीं। दूसरे उसकी छोटी गर्दन के कारण बाघ द्वारा प्रहार व्यर्थ जाता है।

बौना सूअर

भारत में एक बौना बनैला सूअर (वामन वन्य शूकर) होता है। इसमें भी साधारण बनैले सूअर समान ही असीम बल होता है। इसका आकार भूरे खरगोश से कुछ ही बड़ा होता है। किन्तु यह झुंड रूप में रहकर मनुष्य पर आक्रमण कर सकता है। यह प्रबलतम शत्रु से ऊपरी रक्षा करने में भी समर्थ होता है। उनको उथले जलमग्न बन के ऊजड़ मैदान रुचिकर लगते हैं। यह नरकुलों या घनी घासों की पेटी में सुरक्षा पूर्वक शिशु उत्पादन करता है। उसमें से होकर वह अपनी मादे तक सुरंग समान मार्ग बना लेता है। नाँद में चबाई हुई घास या नरकुल आदि की गद्दी बिछी होती है। ऐसे सुविधाजनक छिपे स्थान में उसके शिशु सुरक्षित रहते हैं। वामन वन्य शूकर का प्रसार भूटान की तराई, तथा नेपाल और सिक्किम के जंगलों में पाया जाता है। इसकी ऊँचाई ८ या १० इंच और शरीर का भार पाँच सेर होता है।

बनैले सूअर रात्रिचारी होते हैं। आर्द्र, उथले जलमग्न स्थलों में जंगल के वृक्षों की छाया में रहते हैं। अपने आहार के लिए वे दूर तक चले जाते हैं तथा खेती के क्षेत्र में भारी क्षति पहुँचाते हैं।

योरोपीय बनैला सूअर वर्ष में कम से कम दो बार शिशु उत्पादन करता है।

नए वातावरण में रहने पर जन्तुओं में स्थिति के अनुकूल प्रवृत्ति बना लेने की क्षमता होती है। बनैले सूअर के लिए भी ऐसी बात ही कही जा सकती है। एक सूअर पनडुब्बा रूप धारण किए मिलता है। ये शूकर जंगली रूप में फ़्लोरिडा के निकट द्वीपों में रहते हैं। माँझी जालों में पकड़ी मछली का जो अवशिष्ट भाग पुनः पानी में फेंक देते हैं, उसे ही खाकर ये बनैले सूअर जीवित रहते हैं। इसे प्राप्त करने के लिए वे पानी में डुबकी लगाते हैं तथा ५ फुट की गहराई में जल के नीचे भूमि के तल पर चलकर उसे प्राप्त करते हैं।

बनैले सूअरों की विभिन्न देशों में विभिन्न जातियाँ होती हैं। कुछ जातियों के सूअर बनैले छोटे होते हैं तथा कुछ जातियों के बड़े होते हैं। कुछ धूसर होते हैं तो कुछ काले होते हैं। कुछ नग्न होते हैं तो कुछ रोमाच्छादित होते हैं किन्तु वे सभी सूअर ही होते हैं। केवल वातावरण के भेद से उनका रूप विभिन्न हुआ रहता है।

क्षुप शूकर

अफ्रिका का क्षुप शूकर एक दूसरी प्रसिद्ध जाति है। प्राचीन काल में बड़ी धूम-धाम से अफ्रीका वासी इसका शिकार करते थे। घरों में उसकी सींगों को टाँग-टाँग कर शोभा वृद्धि करने का प्रयत्न उनमें पाया जाता था। इसका आकार बनैले सूअर से छोटा होता है। यह भी रात्रिचारी होता है। उसी की भाँति संघर्ष वृत्ति भी रखता है। अन्य सभी जंगली सूअरों की भाँति यह भी वेगगामी ही नहीं होता बल्कि पानी में भी भली-भाँति तैर सकता है। यह जलमग्न स्थलों की वनस्पतियों में छिपा पड़ा रहता है।

कहा जाता है कि क्षुप शूकर पर तेंदुआ (चित्र व्याघ्र) भी आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकता किन्तु मनुष्य की बन्दूक के सामने वह दुबककर भाग जाता है। वह आदमी की गंध तक से दूर रहना चाहता है। फिर भी आहत होने या बन में घेरे जाने पर क्षुप शूकर भी शिकारी के लिए उतना ही भयानक हो सकता है जितना साधारण बनैला सूअर होता है। यह अपनी स्फूर्ति के कारण शिकार करने वाले कुत्तों को भयानक चोट पहुँचा सकता है।

क्षुप सूकर का प्रसार-क्षेत्र दक्षिणी तथा दक्षिणी पूर्वी भाग से मध्य अफ्रिका तक है। पूर्वी ट्रांसकाल तथा स्वाजीलैंड में इसका आकार बृहद् होता है। प्रौढ़ शूकर का शरीर २ फुट ४ इञ्च से २ फुट ७ इञ्च तक ऊँचा होता है। इसका भार दो मन के लगभग होता है। इसका रंग भूरा लाल होता है। मुख तथा अयाल (केशर) का रंग धूसर सा होता है। किन्तु भिन्न-भिन्न आयुओं में भिन्न-भिन्न रंग पाए जाते हैं।

ऊर्ध्वदंती (बैबिरूसा) शूकर

बैबिरूसा या ऊर्ध्वदन्ती शूकर सबसे विचित्र और अपूर्व होता है। यह छरहरे बदन तथा लम्बोतरे पैरों का सूकर होता है, इसलिए वाराहमृग भी नाम दिया जाता है। इसकी त्वचा नग्न होती है। इसका रंग धूमिल-धूसर होता है। कान छोटे होते हैं। छोटी तथा नग्न पूँछ होती है। सबसे विलक्षण बात यह होती है कि ऊपरी जबड़े का बहिर्मुखी दंत मुख से सीधे बाहर न निकला होकर जबड़े के ऊपर थूथन के मध्य के मांस में ही छेदकर ऊपर की ओर उठा होता है। वह ऊपर जाकर फिर पीछे इतना अधिक मुड़ा होता है कि लगभग माथा स्पर्श करता है। निचले जबड़े के बहिर्मुखी दंत भी

मुड़े होते हैं किन्तु उतने लम्बे नहीं होते। ये शूकर नदियों के तट पर जङ्गलों तथा जलमग्न वनस्थली के मध्य रहते हैं। वे कुछ अंश तक पालतू बना लिए गये हैं। गाँवों के पड़ोस में ये कूड़ा-कबाड़ ढूँढ़ते तथा मनुष्यों के विसर्जित मल की स्वच्छता किया करते हैं।

बेबिरूसा मलाया द्वीपसमूह में सेलेबीज द्वीप में पाया जाता है। यह वन्य शूकर है। इसके शरीर पर विरल रूप में पीठ की
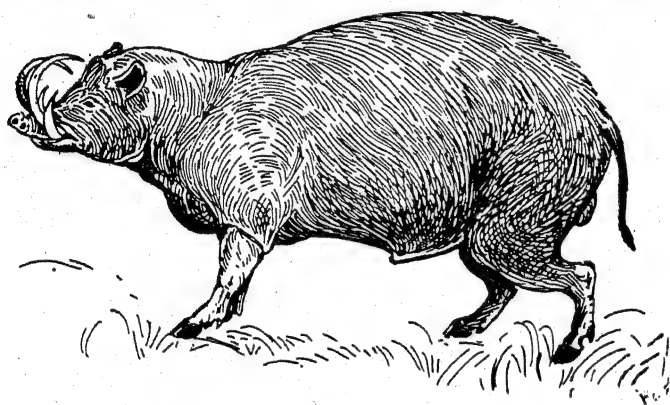
बैबिरूसा (ऊर्ध्वदन्ती शूकर)

रीढ़ पर बालों की पंक्ति उगी होती है। इसकी त्वचा अत्यधिक सिकुड़ी होती है। पूँछ में सिरे पर बालों के गुच्छ का नाम तक नहीं होता। मादा में छोटे बहिर्मुखी दन्त होते हैं। बहिर्मुखी दन्तों का विशाल आयोजन होने पर भी बेबिरूसा शेष दन्तावली क्षीण संख्या की ही रखता है। योरोपीय बनैले सूअर में जहाँ ४० दातों की व्यवस्था होती है वहाँ बेबिरूसा की दन्तावली में कुल ३४ दाँत ही होते हैं। अन्य वृत्तियों में ये अन्य बनैले सूअरों समान ही होते हैं। झुण्ड रूप में जंगल, नदी-तट आदि का भ्रमण करते हैं।

तैराकी में विशेष कुशल होते हैं। इसके शिशु अन्य शूकरों के शिशु की भाँति शरीर पर पट्टियाँ नहीं प्रदर्शित करते। कंधे के निकट शरीर की ऊँचाई २७॥ इञ्च, भार डेढ़ मन और बहिर्मुखी दाँत की लम्बाई १७ इञ्च होती है।

मासार्वुदीय शूकर (वार्ट हाग)

अफ्रिका का मासार्वुदीय शूकर या वार्ट हाग घृणास्पद तथा भीषण रूप का पशु है। उसके बेडौल रूप को देखकर आप उसकी कुप्रवृत्ति तथा भयानकता का अनुमान कर सकते हैं। किंतु यह अनेक वामन नस्ल के शूकरों से न्यून झगड़ालू होता है। बनैले सूअर से तो यह निश्चय ही न्यून आक्रामक होता है। इसके मुख के दोनों
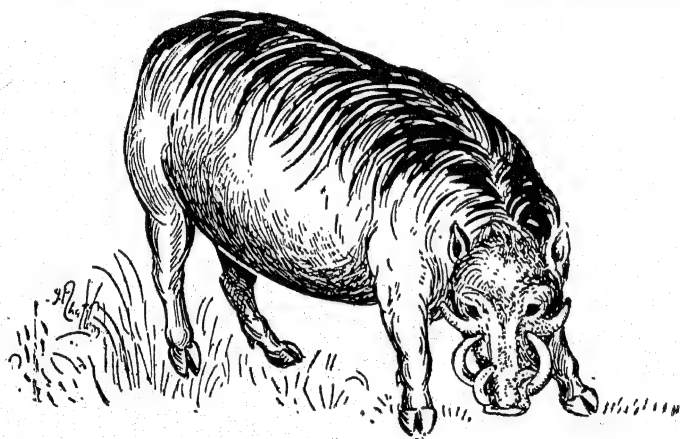
वार्टहाग (मासार्वुदीय शूकर)

पार्श्व में मस्से (मासार्वुद) समान उभाड़ होते हैं। किसी पुराने वृक्ष की सिकुड़ी छाल तथा ऊजड़ भूमि तथा विषमकाल होने से

बेडौल रूप बनने के समान इसका रूप प्रदर्शित होता है। शान्ति की इच्छा रखने पर वयस्क नर शूकर शत्रु का साहसपूर्वक सामना कर शूकरियों तथा शिशुओं की रक्षा का उद्योग करता है। त्वचा नग्न होती है। इसके आकार तथा भयानक रूप के कारण यह दानव शूकर ज्ञात हो सकता है। फिर भी यह अन्य शूकरों समान अधिक भयानक होता है।

मासार्बुदीय या मस्सेदार सूअर प्रशस्त खुले मैदान का रहने वाला पशु है। यह पारिवारिक दलों में घूमता रहता है। कभी-कभी दो-तीन पारिवारिक दल संयुक्त भी हो जाते हैं जिनका कदाचित् एक दूसरे से सम्बन्ध रहा होता है। इस दृष्टि से ये अन्य सब बनैले सूअरों से अधिक परिवारवद्ध होते हैं। यथार्थ में इस शूकर का रूप दिखावटी ही भयानक होता है। वयस्क नर भी पहले कुछ सामना करने का साहस कर स्थिति की भयानकता के अनुसार भगोड़े शूकरों में जा मिलता है किन्तु आहत होने या घेरे जाने पर यह अवश्य ही भयानक रूप धारण करता है तथा अन्य शूकरों की भाँति प्राण जाने तक संघर्ष करता है।

पाताल शूकर (पेक्कारी) उपवंश

पेक्कारी या पाताल शूकर नई दुनिया का पशु है। इसी कारण पाताल शूकर नाम रखना उचित हो सकता है। किन्तु यह यथार्थ शूकर नहीं होता। अधिक से अधिक इसे पुरानी दुनिया के शूकर-वंश का निकटतम या उपवंशीय पशु कहा जा सकता है। इसे मिथ्या शूकर भी कहना अनुचित नहीं हो सकता। आकार में ये क्षुद्रकाय गहरे रंग के शूकर समान होते हैं। इनमें बनैले शूकरों की प्रवृत्ति होती है। शूकर समान ही कड़े बाल भी होते हैं। वे इतनी भीषण प्रकृति के होते हैं कि उनका क्षुद्र आकार का होना संतोष

की बात होती है। अपने निवासक्षेत्र में प्रवेश करने पर वे आगंतुक
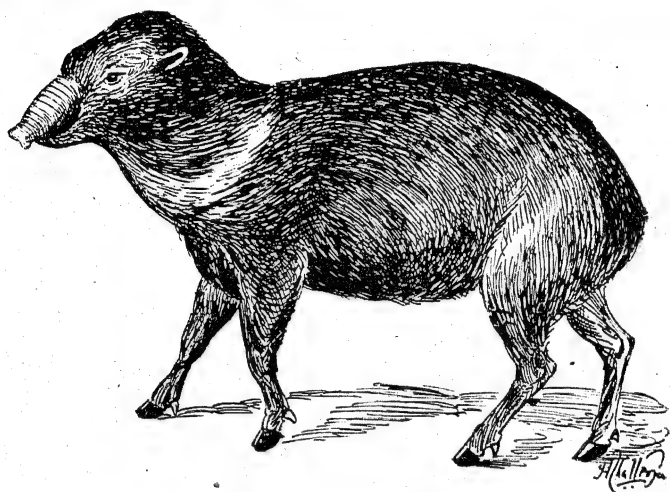
पेक्कारी (पाताल शूकर)

पर अनायास आक्रमण कर सकते हैं। उनसे रक्षा पाने के लिए कितने ही अवसरों पर यात्रियों को वृक्षों पर रात काट लेनी पड़ती है।

पेक्कारी या पाताल शूकर बड़े झुंडों में घूमते हैं। इनका बहुसंख्यक रूप में घूमना ही दूसरों के लिए घोर विपत्ति का कारण है। एकाकी पेक्कारी तो छोटे आकार का होने से नगण्य ही होता है, परन्तु २० से लेकर ३०० तक पेक्कारी संयुक्त रूप में हों तब तो कोई भी उनके सामने टिक नहीं सकता। ब्राज़ील के कुछ भूभागों में रात को उनसे बड़ा भय रहता है। यात्री द्वारा उनको बाधा पहुँचने का भय नहीं रहता, बल्कि वे ही यात्री की जान के ग्राहक हो सकते हैं। आहार की सतत खोज में वे एक भूभाग से दूसरे भूभाग में घूमते

ही रहते हैं। इसलिए ऐसा बहुत कुछ संभव है कि किसी भी समय कोई यात्री उनकी भीड़ के ही रास्ते में सीधे पड़ जाय। उस समय तो सबसे अधिक बुद्धिमत्ता की बात यही हो सकती है कि वृक्ष पर तुरन्त चढ़ जाया जाय और उनकी भीड़ को चुपचाप चला जाने दिया जाय। यदि उन पर गोली चलाई जाय तो दूसरे पेक्कारी टूट पड़ने लगेंगे। गोली से मरने की चिन्ता न कर वे चारों ओर से जुट कर हंगामा मचा देंगे और उत्तेजित होकर डटे ही रहेंगे। इस तरह अटूट साहस दिखलायगे।

पेक्कारी की गतिशील मंडली का पथ-प्रदर्शक या नेता प्रायः कोई वयस्क नर होता है। वह शेष दल से कुछ आगे रहता है। उसके कड़े रोमों की खड़खड़ाहट तथा गुर्राहट से आपत्ति की सूचना प्राप्त हो जाती है। अतएव दल के अन्य सदस्य सतर्क हो उठते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वह आपत्ति की अशंका के स्थल की ओर जाकर जाँच-पड़ताल भी कर सकता है। वे बनैले सूअरों तथा क्षुप शूकरों की भाँति मांस को चीरते और नोच नहीं डालते है, बल्कि वे काटकर टुकड़े-टुकड़े कर किसी भी पदानत शत्रु पशु को खा डालते हैं। यही नहीं, वे तो अमेरिकीय चीता, जगुआ (पातालीय चित्रव्याघ्र) को भी पदानत कर सकने पर टुकड़े-टुकड़े कर खा जाते हैं।

इस दृष्टि से इसके प्रसार-क्षेत्र में इस घृणास्पद शूकर को ही इसके पराक्रम तथा सामूहिक प्रबल प्रहार शक्ति के कारण सिंह-व्याघ्रों के स्थान पर वनराज का पद दिया जाना चाहिये। सिंह और व्याघ्र तो एकाकी रूप में अपना शौर्य दिखा सकते हैं। अतएव वे एकाकी रूप में वनराज होते हैं। परन्तु वैसा ही मर्यादित पद क्षुद्रकाय शूकर अपनी विशाल मंडली रूप में पा सकता है।

पेक्कारी की दन्तावली पूर्वीगोलार्द्ध के बनैले सूअरों की दन्ता-

वली से भिन्न होती है। आमाशय कुछ पेचीदे रूप की रचना रखता है। पिछले पैरों में चार की जगह तीन ही पादांगुलियाँ होती हैं। किन्तु बनैले सूअरों की ही भाँति आकार होता है। शरीर कड़े बालों से आच्छादित होता है। एक प्रमुख केशर (अयाल) होती है। कंठ के नीचे बालों का घना गुच्छ होता है। ये बनों के रहने वाले पशु हैं।

पेक्कारी की दो जातियाँ पाई जाती हैं। एक जाति पट्टितग्रीव पेक्कारी होती है। इसका प्रसार पश्चिमी टेक्साज़, दक्षिणी न्यू-मेक्सिको तथा एरिज़ोना में तथा दक्षिण में पेटेगोनिया में रिओनेग्रो नदी तक है। ये बड़े कुरूप जन्तु हैं। इनकी लम्बाई तीन फुट होती है जिसमें तृतीयांश सिर की ही लम्बाई होती है। इसके शरीर पर बाल होते हैं और काले तथा पीले धूसर रङ्ग से पट्टित होते हैं। पैरों का रङ्ग काला होता है तथा गर्दन के चारों ओर पीलेपन से मिश्रित रङ्ग की कंठे समान पट्टी होती है। इसके शिशु शूकर समान ही होते हैं तथा उनके शरीर पर लाल भूरे रंग के कोमल रोम होते हैं।

पेक्कारी की दूसरी जाति सितओष्ठ पेक्कारी होती है। इसका प्रसार थोड़े-थोड़े स्थान की पट्टियों में दूर तक पाया जाता है। इसे प्रायः दक्षिणी और मध्य अमेरिका में ब्रिटिश होंडूराज़ तथा पैरागुए के मध्यवर्ती भूभाग में ही बड़े झुण्डों में देखा जाता है। यह पट्टितग्रीव पेक्कारी की अपेक्षा कुछ बड़े आकार का होता है। खड़े होने पर इसके शरीर की ऊँचाई १५ से १७½ इंच तक होती है। किन्तु पट्टितग्रीव पेक्कारी की औसत ऊँचाई १३½ से १५½ इञ्च तक ही होती है। इसके पीठ की ग्रंथि मारने के समय तुरन्त ही निकाल फेंकी जाय तभी इसका मांस किसी प्रकार मनुष्य के खाने योग्य हो सकता है। अल्पवय पेक्कारी सहज ही पालतू बनाये जा

सकते हैं। बनैले रूप में ये भयंकर ही होते हैं। अन्य शूकरों की एक बार में बहुसंख्यक संतान के विपक्ष पेक्कारी एक बार में प्राय: एक ही शिशु उत्पन्न करते हैं। इसका शिकार करने वाले बिना सिखाए बड़े कुत्ते भी अकेले पेक्कारी द्वारा मार डाले जा सकते हैं। यदि इसकी मंडली पर वे आक्रमण करें तब तो कुत्तों की धज्जियाँ उड़ सकती हैं। किन्तु कोई सिखाया हुआ बड़ा शिकारी कुत्ता एकाकी पेक्कारी को मार सकता है।

मध्य और दक्षिणी अमेरिका के मूलवासी जङ्गली पशुओं को पालने के अभ्यस्त हैं। वे पेक्कारी तथा टापिर दोनों ही को अर्द्ध-पालतू रूप में रखते हैं। पेक्कारी को पालतू बनाने में कुछ कठिनाई नहीं होती। मनुष्य से परिचय होने पर यह जङ्गली उद्धतपन को भूल-सा जाता है।

सितओष्ठ पेक्कारी का रंग धूसर काला होता है। ऊपरी ओठ तथा उदर का रङ्ग श्वेत होता है। इसकी उत्तरी उपजाति में कपोल श्वेत, उदर काला तथा पीला मिश्रित होता है। शरीर की लम्बाई ३ फुट ८ इञ्च होती है जिसमें दो इञ्च पूँछ की ही लम्बाई होती है।

जलअश्व (हिपोपोटेमस) वंश

जलअश्व या हिपोपोटेमस अफ्रीका का निवासी है। यह सहारा के दक्षिण पाया जाता है। कृषि के प्रसार वाले स्थानों में यह विलुप्त ही हो गया है, परन्तु अब भी बहुसंख्यक उत्पन्न पाया जाता है। यह स्थलचारी पशुओं में सबसे भारी आकार का पशु है। प्रौढ़ जलअश्व का शरीर कभी-कभी ११० मन (चार टन) तक भारी होता है। इसके शरीर की लम्बाई छोटी पूँछ मिलाकर १६ फुट तक पाई गई है। ऊँचाई पाँच फुट तक होती है। निम्न बहिर्मुखी दन्त की अधिक से अधिक लम्बाई चार फुट होती है। यह जलजीवी जन्तु है तथा तालाबों, नदियों, उथले जलमग्न स्थलों में पाया जाता है जहाँ यह अधिकांश समय पानी में ही व्यतीत करता है। यह रात को ही आहार प्राप्त करने बाहर आता है। यह सब प्रकार के वनस्पति खाता है। ईख तथा अन्य खेतों का संहार कर डालता है। यह झुण्डप्रिय जन्तु है किन्तु वयस्क नर एकाकी रहना पसन्द करते हैं। आठ मास गर्भधारण-काल होता है। एक बार में एक शिशु ही उत्पन्न होता है।

जलअश्व छोटे पैरों का जन्तु है। रोमंथक (जुगाली करने वाला) होता है। इसे शूकर का निकटवर्ती पशु कहा जा सकता है। शरीर भारी-भरकम होता है। सिर बड़ा होता है जिसमें चौड़ा और लंबा फैला थूथन होता है। दोनों जबड़ों में लंबे बहिर्मुखी दन्त होते हैं। निचले जबड़े के कर्तनक दाँत कील

नुमा तथा आड़े से होते हैं। पैरों में चार पादांगुलियाँ होती हैं जो

हिपोपोटेमस (जलअश्व)

सभी भू स्पर्श करती हैं। त्वचा प्रायः नग्न होती है किन्तु बड़ी मोटी होती है। इसकी दो जातियाँ होती हैं। एक तो साधारण तथा दूसरी बौना (वामन)।

साधारण जलअश्व

साधारण जलअश्व बेडौल दिखाई पड़ने वाला तथा पीपे के आकार के धड़ का जन्तु है जिसमें छोटे पैर लगे होते हैं। इसके

ऊपरी जबड़े के कर्तनक दाँत बाहर की ओर फैलकर नीचे झुके होते हैं परन्तु निचले जबड़े के कर्तनक मुख तक के समतलीय बनकर आड़े होते हैं। कान छोटे होते हैं। नासिका थूथन के उच्चतम तल पर होती है। आँख माथे के तल से कुछ ऊपर होती है। यह जब पानी में उतराता रहता है तो शरीर को कम से कम भाग को जल-तल के ऊपर रख कर यह देख या सुन सकता है और श्वास ले सकता है। पानी में डुबकी लगाने पर यह अपनी नाक और कान को बन्द कर सकता है।

जलअश्व का साधारण रंग ताँबे समान भूरा होता है किन्तु उसका शरीर सूखा या गीला रहने पर रंग में विभिन्नता जान पड़ती है। पूर्वी अफ्रीका में श्वेत चित्रित तथा श्वेतपदी जलअश्वों के होने की बात सुनी गई है। इस जन्तु में एक अद्भुत बात यह होती है कि इसके पसीने का रंग लाल होता है वह बिल्कुल रक्त समान ही जान पड़ता है। शरीर के कुछ भागों पर त्वचा की मुटाई दो इञ्च तक होती है। इससे कोड़े या घूमने फिरने वाली छड़ी बनती है। छड़ी बनाने के लिए निश्चित मुटाई की त्वचा काट ली जाती है। वह एक छोर पर भारी बाट बँधा रखकर सूखने के लिए लटका दी जाती है। जिससे उसका आकार बिल्कुल सीधा रहे। सूख जाने पर वह चिकना गोल कर ली जाती है। ऊपर से चमक चढ़ा दी जाती है।

जलअश्व बड़े आकार के कारण जितना भद्दा दीख पड़ता है उतना वह चलने में सुस्त नहीं होता। यह धरातल पर मनुष्य की अपेक्षा अधिक वेग से चल सकता है। परन्तु उसकी वेगपूर्ण चाल तो पानी के अन्दर ही देखी जा सकती है। यह केवल तैर ही नहीं सकता, बल्कि डुबकी लगाकर पानी के नीचे पेंदे के तल

पर चल सकता है। यह श्वास लेने के लिए जल-तल पर आए बिना दस मिनट तक पानी में डुबकी लगा सकता है।

जलअश्व के वृहदाकार को देखकर मन में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि इतने बड़े जन्तु की क्या आवश्यकता थी किन्तु सभी जन्तुओं का जन्तु-जगत में कोई स्थान होता है। उनकी कुछ उपयोगिता होती है। जलअश्व की उपयोगिता भी निर्विवाद है। यह प्राय: जलीय वनस्पतियों के अनेक प्रकारों की ही भारी मात्रा खाता है, अतएव उनकी असीम बाढ़ पर यह नियंत्रण डालता है। वे जल-मार्ग को अवरुद्ध करने से वंचित हो जाते हैं। यह लाभ कम नहीं है। इसके उपयोग का कुछ अनुमान यही बताने से हो सकता है कि इसके आमाशय की लंबाई ग्यारह फुट होती है।

दुर्भाग्यवश जलअश्व अपना आहार केवल जलीय वनस्पतियों तक ही सीमित नहीं रखता। यह मनुष्यों द्वारा लगाए गए बगानों तथा खेतों में जाकर भारी क्षति पहुँचाता है। यह जितना खाता है वह तो नष्ट होता ही है, परन्तु पैरों तले रौंदकर भी बहुत अधिक फसल बर्बाद करता है। जल-स्रोतों का प्रवाह अवरुद्ध न होने देने के लिए जलीय वनस्पतियों के खाने के अतिरिक्त भी यह मनुष्य को कुछ लाभ पहुँचाता है। इसका मांस मूलवासी खाते हैं। बहिर्मुखी दाँतों से मूल्यवान वस्तुएँ बनती हैं। वह हाथी दाँत से घटिया नहीं होता।

जलअश्व वंश आज केवल अफ्रीका में ही विद्यमान है। कहीं भी अन्यत्र नहीं पाया जाता परन्तु इस प्रजाति की कई जातियों के प्रस्तरावशेष योरप तथा एशिया के विभिन्न भागों में पाए जाते हैं। इन प्रस्तरावशेषों द्वारा सिद्ध होता है कि प्लीस्टोसीनी काल में इस विचित्र तथा विद्रूप जन्तु का पूर्वी गोलार्द्ध के अत्यधिक भूभागों में प्रसार था। इंगलैंड तथा पश्चिमी योरप में पुरातन काल में

रहने वाले दीर्घाकार जलअश्वों के प्रस्तरावशेषों से आधुनिक काल की अफ्रीकीय जाति के जलअश्व के कंकाल को पृथक् बता सकना कठिन हो सकता है। यही एक ऐसा जन्तु कहा जा सकता है जिसका प्रागैतिहासिक काल से अब तक कोई रूपान्तर नहीं हुआ।

अफ्रीका में भी जलअश्व कुछ समय पहले नील नदी के डेल्टा से लेकर केपटाउन के निकट दक्षिणी छोर तक का पाया जाता था किन्तु निम्न नील नदी से तो इसका बहुत पहले ही लोप हो गया था। किन्तु लिम्पोपो के दक्षिण सारे ब्रिटिश उपनिवेशों से उसका आधुनिक काल में ही लोप हुआ है। नील नदी पर खारतूम के नीचे कहीं नहीं पाया जाता, परन्तु दक्षिणी अफ्रिका में आरेंज नदी के नीचे भागों में कहीं-कहीं पाया जाता है। जेम्बजी, कफुकवे, चोबी, सावी लिम्पोपो और उसूटू आदि नदियों और मेटाबिलिलेंड तथा मशोनालेंड के पठारों से निकलने वाले उन सब बड़े सोतों में यह पाया जाता है जो उत्तर, दक्षिण तथा पूर्व में बहकर जेम्बजी, लिम्पोपो या सावी नदियों में जा मिलते हैं। क्लिमानी नदी के मुहाने पर समुद्र में भी पाया जाता है। मूलवासियों का तो यहाँ तक कथन है कि यह समुद्र में एक नदी से मुहाने से चलकर दूसरी नदी के मुहाने तक पहुँचता है।

जलअश्व कुछ थोड़े सदस्यों के पारिवारिक दल या बीस से तीस तक के झुण्ड में पाया जाता है। वृद्ध जलअश्व प्रायः एकाकी ही मिलते हैं। मादा सन्तानोत्पादन के समय दल से कभी पृथक् एकान्त स्थल में चली जाती है। वहाँ से सन्तान उत्पन्न होने के पश्चात् वह फिर दल में शीघ्र वापस चली आती है।

जलअश्व अपने विशाल मुख अधिक से अधिक चौड़ाई में खोलता है। उनमें कर्तनक और रदनक दाँत बड़े आकार के होते

हैं। वे एक दूसरे से रगड़ खाकर तीव्र बनते हैं। इस कारण जल-अश्व मोटी घास और नरकुल की प्रचुर मात्रा शीघ्रतया नोच खाता है।

दिन को जलअश्व कदाचित ही कभी पानी के बाहर मिले। वे दिन भर नदियों के गहरे जलखंड में ऊँघते पड़े रहते हैं। केवल आँख, कान, नाक ही जल-तल के ऊपर दिखाई पड़ते हैं या बालुकामय तट के छोर धूप खाते रहते हैं और उनका अधिकांश शरीर जलमग्न ही रहता है। वे बृहद् काय शूकरों के समान नेत्र विस्फारित किए दिखाई पड़ते हैं। कभी-कभी वे पानी से पूर्णतया बाहर आकर जलीय वनस्पतियों के मध्य सोते रहते हैं।

जलअश्व अफ्रीका के उष्णतम भाग में भली-भाँति रह सकता है और उन नदियों के मलीन जल में रहता है जो महाद्वीप के उष्ण भाग के मलेरिया रोगपूर्ण तटीय क्षेत्रों में होकर प्रवाहित होती है। किन्तु यह उन छोटी नदियों में भी मिलता है जिनका पानी शीतकाल में हिमांक से कुछ ही ऊपर होता है। समुद्र तल से यथेष्ट ऊँचे स्थलों पर भी पाया जाता है। मशोनालैंड में सैलिजबरी नगर के निकट मनयामो नदी में यह पाया जा सका है जो समुद्र तल से ५००० फुट ऊँचाई के भूखण्ड में प्रवाहित होती है। वहाँ तो जाड़े में बाहर खुले रूप में रखे पानी पर अष्टमांश इञ्च मोटी बर्फ की तह जम जाती है। जाड़े में हरियाली की अधिकता से जलअश्व बहुत मोटा हो जाता है। अपेक्षाकृत ऊँचे और ठंडे स्थानों में इसकी अधिक वृद्धि होती है। फिर वर्ष के शुष्कतम भाग में भी अधिकांश वसा सुरक्षित रखता है।

जलअश्व अफ्रीका की नदियों में देशी डोंगियों को अनेक बार उलटकर प्रतिहिंसा की भावना प्रकट करते हैं। एकाकी नर या शिशु के साथ जननी से अधिक भय रहता है। ये कभी कभी

डोंगियों के पार्श्व भाग को पैने दाँतों से चीर डालते हैं। यही नहीं, डोंगी के कुछ आदमियों को भी जान बचाने के लिए तैरने का प्रयत्न करते समय कुचल डालते हैं।

नर जलअश्व कदाचित् परस्पर लड़ते भी हैं क्योंकि शिकार किए हुए नरों की खाल के क्षतविक्षत होने के प्रमाण मिलते हैं। कभी मूलवासी भी इनको घायल करते हैं, अतएव बाद में उनका शिकार होने पर खाल में पहले की चोट के चिन्ह मिल सकते हैं। एक बार एक जलअश्व की नाक में गोली लगी। गोली लगते ही वह पानी में डुबकी मार कर भाग गया और उसने उत्तेजना में अपने एक दूसरे सजातीय पशु पर वेग से आक्रमण किया किन्तु वह सजातीय पशु पहले ही गोली का शिकार बनकर मृत हो गया था और जल खंड के पेंदे में उसका शव ही पड़ा था। उसने इस मृतजल अश्व के पिछले पैर को पकड़कर पानी के तल पर इतने वेग से पहुँचाया कि मृत जलअश्व का आधा शव ही जल तल के ऊपर नहीं दिखाई पड़ गया, बल्कि उस आक्रामक जलअश्व का सिर और कंधा भी जलतल के ऊपर दिखाई पड़ गया। दूसरी गोली माथा में लगने पर वह स्वयं मृत होकर जल खण्ड के पेंदे में चला गया, परन्तु तब भी पूर्व मृत जलअश्व का पिछला पैर उसके मुँह में ही दबा पड़ा रहा और उसका शव भी साथ ही जलखण्ड के पेंदे में पहुँच गया।

जलअश्वों को गोली का शिकार होने के अतिरिक्त मूलवासियों के हाथ अन्य युक्तियों से भी मृत होने का अवसर होता है जिनकी कहानियाँ बड़ी ही विचित्र हैं। अफ्रीका के मूलवासी जलअश्वों को अनेक विधियों से मारते हैं। वे पहले रस्सी में आबद्ध रखे हुए भाले (हारपून) से जलअश्व पर प्रहार करते हैं। इस रस्सी के दूसरे सिरे पर कोई पानी पर तैरने वाली हल्की वस्तु बँधी होती

है जिससे आहत जन्तु की गति-विधि का पता लगता रहे। डोंगियों पर पीछा करते रहने के बाद बार-बार भालों की चोट करते करते उसका प्राणान्त कर दिया जाता है। एक दूसरी विधि विचित्र रूप की होती है। कोई भाला लकड़ी के भारी कुन्दे में मढ़ा जाता है। उससे बँधी एक रस्सी जलअश्व के चलने के मार्ग में भूमि से थोड़ी ऊँचाई पर फैलाई रहती है। जब जलअश्व के चलने से पैरों द्वारा उस रस्सी को धक्का लगता है तो ऊपर से भाला बोझ का बंधन कटने या शिथिल पड़ने पर गिरकर उसके शरीर से विद्ध हो जाता है। एक बार तो ऐसे फंदे की रस्सी से एक घुड़सवार के घोड़े के पैर धक्का खा गए और ऊपर से तुरन्त बोझ के साथ भाला गिर पड़ा। बेचारा सवार तो किसी प्रकार बच गया। परन्तु भाला ठीक उसके सामने ही घोड़े की पीठ में धँस गया।

उत्तरी मशोनालैंड के मूल अफ्रीका वासियों में जलअश्व को सहज मारने की एक दूसरी भयंकर विधि प्रचलित थी। वे किसी झुण्ड को ही घेरे में डालकर मार डालते थे। बात यह होती है कि उस भूभाग में उत्तरी ढाल से जेम्बजी नदी में आकर मिलने वाली सभी नदियों में बड़े-बड़े झरने होते हैं। झरनों के गिरने के नीचे भूमि कटकर जल कुण्ड बने होते हैं। एक नदी में ही थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटे या बड़े कितने ही जलकुण्ड हो सकते हैं जिनके मध्य नदी की उथली एक या अनेक धाराएँ बहती रहती हैं। इन जल-कुण्डों में जलअश्वों के झुण्ड विश्राम करते हैं। किसी जलकुण्ड में जलअश्वों का झुण्ड पहुँचा देखकर मूलवासी बस्तियों से आकार चारों ओर घेरे के लिए दीवाल बना लेने का प्रयत्न करते हैं। रात भर प्रकाश कर और बाजे बजाकर भागने नहीं देते।

जेम्बजी की सहायक नदियों के जलकुण्ड १०० गज से लेकर एक मील से अधिक लम्बाई तक के मिलते हैं। उनमें से किसी

छोटे कुण्ड में ही जलअश्वों के होने पर घेर सकना सम्भव हो सकता है। इसके लिए उस क्षेत्र के सभी निवासी स्त्री, पुरुष तथा बच्चे एक होकर उसमें दोनों ओर की छिछली जल धाराओं को छेंक लेने का प्रयत्न करते हैं। जल कुण्ड के चारों ओर रात को आग प्रज्वलित रखी जाती है। त्रस्त करने के लिए बाजे तो निरंतर बजते ही हैं। बेचारे जलअश्व असहाय से होकर वहाँ बन्दी रूप में पड़े रहते हैं। दिन पर दिन चारों ओर का घेरा दृढ़ किया जाने लगता है। कहीं-कहीं दुर्बल स्थानों के घेरे को दृढ़ करने के लिए मचान भी बना दी जाती है। वहाँ से जलअश्वों पर बर्छे से बार-बार प्रहार कर आहत किया जाता है। भागने या रक्षा का कोई मार्ग न होने से सम्पूर्ण दल भालों का शिकार होकर मृत हो जाता है या अधिक समय तक घिरे पड़े रहने से भूखों ही मर जाता है।

जलअश्वों को मारने का उद्देश्य उनका मांस खाना होता है। बहुसंख्यक मूलवासी कितने ही समय तक केवल उन्हीं का मांस खाकर रहते हैं। इसके मांस का एक भी टुकड़ा व्यर्थ नहीं जाता। सब भुक्खड़ मूलवासियों के उदर में ही स्थान पाता है। वे बेचारे तो अपने आहार के लिए ही विवश होकर ऐसा बध कार्य करते हैं। परन्तु बहुत से स्थानों पर केवल शिकार या कौतुक की दृष्टि से ही कितनी ही जाति के जन्तुओं का संहार सभ्य जन-समुदाय द्वारा होता पाया जाता है। बहुत से देशों ने अनेक पशुओं को लुप्तप्राय देख उनकी रक्षा के लिए बध कार्य की निषेधाज्ञा प्रचारित कर रक्खी है।

बौना (वामन) जलअश्व इस पशु की दूसरी जाति होती है जिसके शरीर की लम्बाई ६ फुट और ऊँचाई ढाई फुट होती है। शरीर का भार पाँच मन तक होता है। शरीर का रंग ऊपरी तल पर

हरापन युक्त नीला काला तथा अधोतल पर हरापन-सा या पीला-पन युक्त धूसर होता है। यह बड़े जलअश्व की अपेक्षा कम जल जीवी होता है। केवल स्नान का आनंद लेने के लिए ही पानी में जाता है। यह जोड़े रूप में रात को घूमता रहता है। इसका आहार कोपल फल तथा घास है। अफ्रीका में तटीय भागों में सियर्रा लियोन से नाइजीरिया तक पाया जाता है। यह झुण्डों में नहीं रहता। दिन को सोता रहता है।

वामन जलअश्व की त्वचा का तल बहुत चमकीला होता है। शरीर का आकार छोटा होता है। दीर्घकाय जलअश्व की अपेक्षा इसके पैर दुबले-पतले होते हैं। पैर की पादांगुलियाँ अधिक फैली होती हैं। आँखें कम उभड़ी होती हैं। यह अधिक क्रियाशील तथा भ्रमणशील वृत्ति का होता है।

अफ्रीका की जातियों के जलअश्वों के समान प्रस्तरावशेष इङ्गलैण्ड में दक्षिणी और मध्यवर्ती जिलों में खुदे गड्ढों की मिट्टी तथा नदी की मिट्टी में पाए जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय यह पशु टेम्स या अन्य नदियों में पाया जाता था, ये नदियाँ बर्ष भर जल प्रवाहित करती रहती होंगी, कभी पानी जमकर हिम न बनता होगा अन्यथा बर्फ जमने वाले जलखण्ड में जल-अश्व का कभी निवास नहीं हो सकता था। किन्तु विस्मय की एक बात यह है कि इनके प्रस्तरावशेषों के साथ ही उन जन्तुओं के भी प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं जो पूर्णतः ध्रुवीय क्षेत्र वासी होते हैं। कस्तूरी वृषभ, रेनडियर (ध्रुवीय न्यंकु या बारहसिंगा) और सैगा मृग ऐसे जन्तु हैं। इस विरोधाभास का क्या कारण हो सकता है, यह बड़ा विकट प्रश्न है। प्रश्न उठता है कि क्या एक ही भूखण्ड ध्रुवीय भी था और उष्ण कटिबंधीय भी। इसका एक युक्तिसंगतः उत्तर दिया जा सकता है। अफ्रीका में विशाल क्षेत्र में धरती के

धसान से कुछ भूखण्ड अकस्मात् नीचा हो गया। आज एक स्थल पर ही एक ओर तो ऊँची तलीय भूमि मिलती है। उसके समीप में ही दूसरी ओर नीचे तल की विस्तृत भूमि है। नीची भूमि या घाटी में सतत जलप्रसविनी सरिताएँ बहती रहती हैं। किन्तु उनके तटवर्ती ही ऊँची भूमि का उत्तुंग तल हिम शृंग बन हिमाच्छादित रह सकता है। यही बात इङ्गलैंड में भी पूर्व काल में हुई होगी। नीचे की उष्ण घाटी में उष्ण नदी प्रवाहित होगी और पार्श्व भाग की १००० से २००० फुट ऊँची भूमि पर हिमनदों के प्रवाह और हिमाच्छादित रूप से ध्रुवों का वातावरण उपस्थित होता होगा। अतएव ऊपरी भाग में तो ध्रुवीय जन्तु निवास करते रहते होंगे तथा निम्न तल की घाटी में जलअश्व जल-विहार करते रहे होंगे। कालान्तर में इन दो विभिन्न प्रकार के प्रस्तरावशेष तो एकत्र रह सके परन्तु भूतल ने रूपान्तर कर अपनी तल-विषमता को आज का रूप दिया।

———

जिराफ वंश

भारत में जिराफ का समीपवर्ती जन्तु किसी युग में शिवालिक पहाड़ियों में रहता होगा। उसका नाम शिवाथेरियम रक्खा गया है। इस वृहद् आकार के जन्तु का प्रस्तरावशेष पाकर कल्पित रूप में पूर्ण आकार बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसके माथे पर सींगों के दो जोड़े होते थे। उन्हें सींग न कहकर हड्डियों का उभाड़ कहना ही ठीक है। इनमें आगे की ओर बड़ी सींगों का जोड़ा कुछ शाखाओं या फाँकों मय होता था। उन्हें आधुनिक काल के एल्क मृग समान अनुमान किया जा सकता है। पीछे की ओर छोटी सींगों का जोड़ा होता था। गर्दन छोटी होती थी, सभी पैर समान आकार के होते थे। उनमें अतिरिक्त पादांगुलियाँ नहीं होती थीं। यह पशु हाथी के समान बड़ा होता था। इसके थूथन में सैगा हिरण की भाँति मांसल लंबोतरे ओठ होते हैं। शृंगहीन शिवाथेरियम के भी नमूने पाए गए हैं। वे मादा के ही प्रस्तरावशेष हैं।

जिराफ का नाम यथेष्ट प्रसिद्ध है। केवल बाहरी आकार में थोड़ा साम्य होने से इसे चितकबरा या चित्रित ऊँट भले ही कह लिया जाय, परन्तु ऊँट के वंश से इसका वंश सर्वथा पृथक होता है। यही नहीं, बल्कि इसके सींग भी होती है। अतएव चित्रित उष्ट्र कहकर एक भारतीय नाम बनाना ही लक्ष्य है।

जिराफ की गर्दन बड़ी लम्बी होती है किन्तु उसमें साधारण
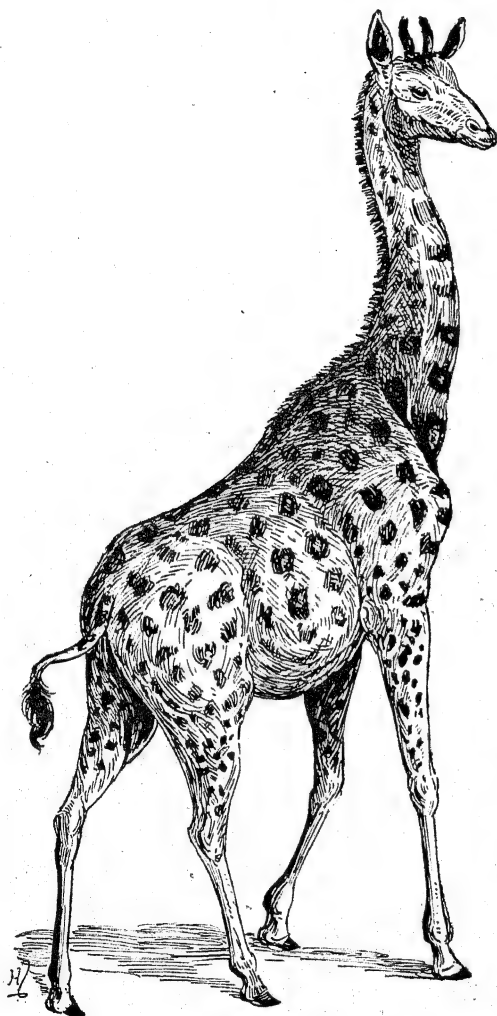
जिराफ (चित्रित उष्ट्र)

रूप की सात कशेरुकाएँ (रीढ़ की छोटी-छोटी हड्डियाँ) होती हैं। इसकी सींगें अन्य सभी रोमंथकों (जुगाली करने वाले पशुओं) से भिन्न रूप की होती है। वे क्षुद्र अस्थीय उभाड़ ही होती हैं। हड्डियों के वे उभाड़ कपाल की हड्डियों में संयुक्त हो गये होते हैं तथा ऊपर से त्वचा द्वारा आच्छादित होते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि अन्य रोमंथकों (जुगाली करने वाले पशुओं) में सींग का दृश्य भाग कठोर पदार्थ से

बना होता है जो त्वचा नहीं होता, बल्कि उसका नाम ही शृंगीय पदार्थ कहा जा सकता है। उसकी खोखली टोपी के नीचे आधार की ओर कुछ हड्डी का उभाड़ भीतर की ओर होता है। इन खोखली सींगों के स्थान पर जिराफ की नन्हीं सी सींग हड्डी की ठोस रचना होती है परन्तु शृंगपाती या मृगवंशी पशुओं की तरह कभी वह गिरती नहीं। दो मुख्य छोटी सींगों के मध्य ही एक और विशेष छोटी सींग होती है जिसे सींग न कहकर मध्यवर्ती उभाड़ कहना अधिक उचित हो सकता है।

सींगों की व्यवस्था नर के समान मादा जिराफ में ही नहीं होती, बल्कि शिशुओं में भी यथेष्ट विकसित होती है। जिराफों में रदनक (कुकुरदन्ते) का ऊपरी जबड़े में अभाव होता है, परन्तु निचले जबड़े में ये होते हैं। अन्य रोमंथकों के पैरों की मिथ्या पादांगुलियाँ (दिखावटी खुर) जिराफ की जातियों में लुप्त हो गई होती हैं। इसके यकृत में पित्ताशय का अभाव होता है, परन्तु अधिकांश अन्य रोमंथकों में भी पित्ताशय का अभाव देखा जा सकता है।

जिराफ अरबी शब्द है जिसका अथ त्वरागामी या वेगगामी है। इस जाति का नाम तो एक साधारण छात्र भी अपनी भूगोल की पुस्तकों में अफ्रीका के वर्णन के साथ पढ़ता है, परन्तु लोगों को यह ज्ञात नहीं होगा कि इसकी विभिन्न जातियाँ भी होती हैं। एक जाति को उत्तरी जिराफ कह सकते हैं जो सोमालीलैंड में पायी जाती है। दूसरी जाति दक्षिणी अफ्रीका में पाई जाती है। इन दोनों जातियों में प्रमुख भेद यह है कि दक्षिणी उपजाति में मध्यवर्ती सींग या अस्थीय उभाड़ का आकार बड़ा होता है किन्तु उत्तरी जाति में वह नाम मात्र का ही होता है।

जिराफ को मृग तथा वृषभवंश के मध्य का पशु समझना

चाहिए। यह आधुनिक काल के जीवित जन्तुओं में सबसे अधिक ऊँचा होता है। प्राचीन प्रस्तरावशेषों द्वारा प्रकट होता है कि प्राचीन काल में जिराफ के समान आकार वाले दीर्घकाय जन्तु, जिनमें से कुछ में सींग भी होती थी, बड़े व्यापक रूप में दक्षिणी योरप, ईरान, भारत तथा चीन तक में होते थे। उत्तरी जाति के जिराफ का प्रसार सुमालीलैंड के अतिरिक्त अबीसीनिया तथा नील नदी के भूभाग और पूर्वी अफ्रीका में पाया जाता है किन्तु दक्षिणी जाति का जिराफ उत्तमाशाअंतरीप से लेकर बेचुआनालैंड और ट्रांसवाल होकर ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका और सूडान तक पाया जाता है। दक्षिणी जिराफ अधिक प्रचलित है। उसका रंग पीलापन युक्त उजला (पीताभ श्वेत) मक्खनिया होता है। इस रंग की पृष्ठ-भूमि में अनियमित आकार के धब्बे होते हैं जिनका रंग भिन्न-भिन्न आयु के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। उसका रंग नीबू समान मटमैले पीले से नारंगी रंग युक्त हल्का भूरा तक होता है। अधिक वयस्क में उनका रंग गहरा बादामी होता है। आयु बढ़ने पर नर तथा मादाओं का रंग अधिक गहरा हो-जाता है। दूर से देखने पर वे पीठ तथा कंधे के निकट बिल्कुल काले से दिखाई पड़ते हैं।

उत्तरी जिराफ का रंग दूसरा होता है। इसका रंग प्रचुर लाल बादामी होता है। अवस्था बढ़ने पर वह परिवर्तित होता जाता है। इस रंग के बीच-बीच श्वेत रेखाओं का जाल सा होता है। वे सुडौल रूप में बहुभुज क्षेत्र आकृति के होते हैं। यह जिराफ उत्तरी जिराफ की तरह चित्रित या धब्बों युक्त दिखाई पड़ने के स्थान पर थोड़ी दूरी से ही देखने पर पूर्णतः बादामी रंग का दिखाई पड़ता है।

सभी जिराफों में सींगों की त्वचा या बाह्य आवरण पर बाल निकले होते हैं तथा उनके सींग की छोरों का रंग काला होता है।

वे अल्पायु में यथार्थतः कपाल की अस्थि से पृथक सी ही होती हैं। पशु की प्रौढ़ावस्था आने पर वे कपाल की अस्थि से संयुक्त होजाती है।

जिराफ के गगनचुम्बी ऊँचे रूप का मुख्य कारण उसकी बहुत ही लम्बी गर्दन तथा लम्बे पैर होते हैं। एक पूर्ण वयस्क नर जिराफ की ऊँचाई १६ फुट होती है। मादा .१७ फुट तक ऊँची होती होगी। ये पशु ऊँचे वृक्षों की पत्तियाँ ही खाकर जीते हैं। बहु-संख्यक जिराफों को चित्रित रंग प्रदर्शित कर अपनी लम्बोतरी गर्दन ऊपर उठाए एक क्षेत्र में पत्तियाँ खाने में लिप्त देखने का दृश्य मनोहर होता है। उनकी मंडली तो किसी दूसरे युग की ही बात ज्ञात होती है।

जिराफ का ऊपरी ओठ लंबा और ग्रहणशील होता है। कटीली डालों से रक्षा करने के लिए वह छोटे बालों की घनी मखमली तह से आवृत होता है। जीभ १८ इञ्च तक लम्बी होती है। वह किशलयों को वृक्ष की डालों से नोचने के काम आती है। जिराफ के नेत्र बड़े सुन्दर होते हैं। इनका रंग गहरा भूरा होता है। उनके ऊपर लम्बी पलकें होती हैं।

जिराफ पूर्णतः मूक पशु है। मृत्यु वेदना में भी कराहने तक का शब्द कभी सुनाई नहीं पड़ता। खुर बड़े और लम्बोतरे होते हैं। वयस्क जिराफों में खुर की लम्बाई १२ इञ्च तक होती है। वे किसी दीर्घकाय ढोर के खुर समान ज्ञात होते हैं। दिखावटी खुर नहीं होते। गुल्फ (टखना) गोल और चिकना होता है। पूर्ण वयस्क जिराफ की खाल असाधारण दृढ़ और ठोस होती है। अधिक वयस्कों में तो उसकी मोटाई एक इञ्च तक हो जाती है। इन्हीं की खाल से कोड़े बनते हैं जो दक्षिण अफ्रीका भर में प्रचलित हैं। खाल की बहुमूल्यता के कारण ही इसका बहुसंख्यक बध किया जाता है।

जिराफ मुख्यतः जंगलों का निवासी है। आंशिक रूप के खुले

मैदानों में भी पाया जाता है जहाँ जगह-जगह वृक्षावली पाई जाती है। पीछा किये जाने पर ये झाड़-झंखाड़ों के सघनतम भागों में घुसते जाते हैं। उनकी मोटी खाल अफ्रीका के इन कँटीले जङ्गलों के काँटों से विद्ध नहीं होती और वे इन सब कँटीले व्याघातों को पार करते जाते हैं। वे सघन वृक्षावली के तनों तथा डालियों से कौशलपूर्वक बच निकलने में भी समर्थ होते हैं। अतएव साधारण वस्त्र पहनकर जिराफों का पीछा करना शिकारी के लिए असंभव-सा कार्य होता है। उसे काँटों में न विद्ध हो सकने वाला आच्छादन ही धारण करना पड़ता है।

जिन भूभागों में जिराफ का पीछा नहीं किया जाता, वहाँ वे मैदानी भागों में भी निर्द्वन्द्व घूमते-फिरते हैं। वहाँ उन्हें घने जङ्गलों से दूर भी देखा जा सकता है। वे इधर-उधर खड़े वृक्षों की पत्तियाँ खाते-फिरते हैं। किन्तु दक्षिणी अफ्रीका में घने जङ्गलों के बाहर जिराफों को देख सकना कठिन ही हो सकता है।

जिराफ मामूली गति से चलकर भी अपने लम्बे पैरों से बड़े-बड़े डग शीघ्र भरने के कारण शीघ्र दूर पहुँच सकते हैं किन्तु इन्हें पकड़ने का प्रयत्न किया जाय तो ये छलांग मार कर भी भागने का प्रयास करते हैं। ऊँट की भाँति जिराफ भी एक बगल के दोनों पैर एक साथ उठा-उठा कर चलते हैं।

जिराफ का शिकार करने के लिए घुड़सवार शिकार को भी मीलों दौड़ना पड़ता है। उसका शरीर धब्बों के स्थान छोड़कर एक प्रकार से अभेद्य ही होता है। किन्तु शिकारी उसकी दुर्बल नस पहचानते हैं। पूँछ की जड़ के निकट गोली लगने से उसकी मृत्यु हो जाती है।

जिराफ अनेक स्थानों में नितान्त जलशून्य भूभागों में रहता है। एलड, गेम्सबक तथा अन्य मरुप्रदेशीय हरिणों की भाँति यह भी बिना पानी पिये ही दीर्घकाल तक महीनों रह सकता है। उत्तरी

अफ्रीका में कालाहारी मरुस्थल के उत्तरी भागों में ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण पाये जा सकते हैं जिसमें वे निस्सन्देह रूप से शुष्क शीत-ऋतु की पूर्ण अवधि में मुख से पानी छुए बिना ही रह जाते हैं। उसी निर्जल क्षेत्र में गेम्सबक और एलैंड हरिण भी जाड़े भर तक बिना पानी पिये पड़े रह जाते हैं।

ओकापी (अर्द्ध पट्टित उष्ट्र)

ओकापी जिराफ वंश का जन्तु ही है। यह बेलजियम कांगो
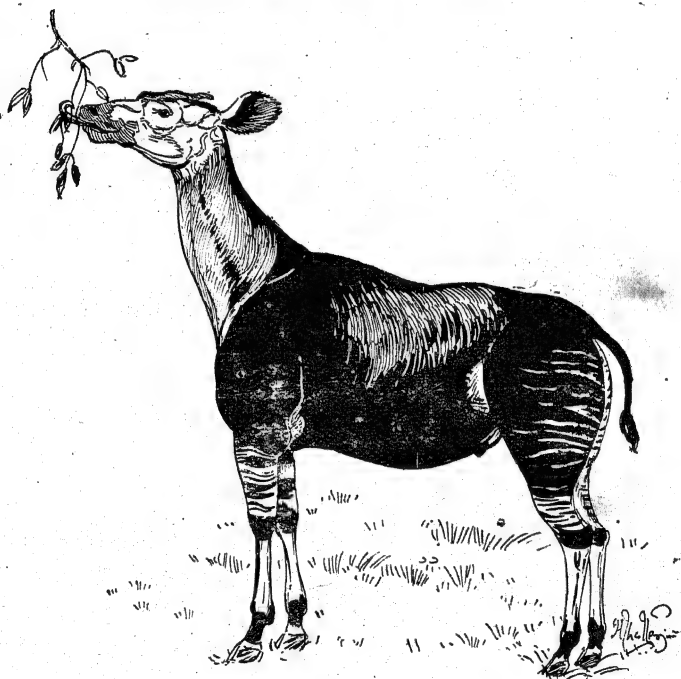
ओकापी (अर्द्धपट्टित उष्ट्र)

के इटूरी तथा सेमलिकी बनों में पाया जाता है। इसका ज्ञान पहले-पहल १६०० ई० में हुआ था। कंधे के निकट इसके शरीर की ऊँचाई ५ फुट ४ इञ्च होती है। जिराफ से यह छोटा होता है। नर मादा से छोटे आकार का होता है। केवल नर में दो छोटी त्वचा-आच्छादित शंकु आकार की सींगें होती हैं। सींग के छोर नग्न हाथी दाँत समान टोपी युक्त होते हैं। कान लम्बे और चौड़े होते हैं। शरीर का रंग सपाट रूप में एक समान लाल युक्त भूरा होता है। जंघे, कूल्हे तथा अगले पैर के ऊपरी भागों पर आड़े रूप की ज़ेब्रानुमा पट्टियाँ होती हैं। पैरों के निम्न भाग श्वेत रंग के किन्तु काले धब्बों युक्त होते हैं। यह लज्जालु तथा रात्रिचारी जन्तु होता है। अकेले या जोड़े रूप में रहता है। आर्द्र जङ्गलों के सघनतम भाग में पाया जाता है। विशेष वृक्ष की पत्तियाँ ही खाता है।

विषमांगुलीय गण

गंडक वंश

हाथी और जल-अश्व (दरयाई घोड़ा) की भाँति गेंडा (गंडक) भी भीमकाय पशु होता है। इसके पैर छोटे तथा भारी होते हैं। प्रत्येक पैर में तीन पादांगुलियाँ होती हैं जिसमें चौड़े नख संयुक्त होते हैं। इस पशु की त्वचा बड़ी ही स्थूल होती है किन्तु वह तलवारों की खड़खड़ाहट के पुराने युग में भले ही तलवार की धार का आघात व्यर्थ सिद्ध कर देती रही हो। आज के आग्नेय अस्त्रों, गोली कारतूसों के आगे अब उसके कवच बनने की बात एक मिथ्या कल्पना या स्वप्न ही है।

गंडक विषमशफी या विषम पादांगुलीय पशु है। हाथी को छोड़कर यह सबसे बड़े आकार का स्थलचारी स्तनपोषी है। नासिका के ऊपर स्थित एक या दो शृंगीय पदार्थों के निर्मित शृंग होते हैं। लोगों को यह पता नहीं होता कि इसकी सींग का इसकी शरीर-स्थ या कपालीय अस्थि से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह त्वचा के ऊपर शृंगीय पदार्थ के रेशों से निर्मित होती है। कपालीय अस्थि से कोई सम्बन्ध न रखने का प्रमाण तो सींग को त्वचा के ऊपर कुछ इधर-उधर हिला सकने के कारण तुरन्त प्राप्त हो सकता है। यदि उसका कपाल की हड्डियों से सम्बन्ध होता तो उसे हिला सकना संभव नहीं होता।

यह प्राचीन विश्वास रहा है कि जब यह जन्तु निर्विघ्न पड़ा हो तो उसकी सींग हाथी के शुंड की भाँति लचकशील होती है। परन्तु उत्तेजित होते ही वह शिथिल वस्तु ही दीर्घ कठोर हो जाया करती है। उत्तेजना शान्त न होने तक उसका कठोर रूप बना ही रहता है। ऐसे विश्वास को निराधार नहीं कहा जा सकता। सींग एक अस्थीय उभाड़ को आधार बनाये होती है तथा नाक की छोर पर स्थित होती है। उसका आधार एक पेशियों की पेटी में स्थित हो सकता है। सींगों के आधार की वे पेशियाँ उसके विश्राम करते समय शिथिल रहती होंगी, उत्तेजना पर कठोर हो जाती होंगी। ऐसी स्थिति में होने से अपनी मंडली में निश्चिन्त विश्राम करते रहने पर सींग के हिल-डुल सकने से उसका लचकशील रूप अनुमानित होना संभव है। एक प्रसिद्ध यात्री का यह कथन है कि गेंडे की सींग उसी प्रकार उगती है जैसे बाल उगते हैं। अतएव इसे एकाकी कहना अनुचित ही है किन्तु यह बहुत अधिक बिखरी भी नहीं होती। ऐसा विश्वास करने में भी बाधा नहीं कि वे उसे कुछ अंश तक हटा सकने की शक्ति रखते हैं। शूकर भी इसी से मिलता-जुलता जन्तु है। उसमें अपने कड़े बालों को इतना अधिक स्थानान्तरित करने की शक्ति होती है कि यदि वे एकत्र चिपकाए जा सकें तो गेंडे की तरह सींग बना लें।

सींगों के सम्बन्ध में अंधविश्वास भी उल्लेखनीय है। अरब के कुछ कबीलों का तो ऐसा विश्वास पाया जाता है कि यदि गेंडे के सींग को प्याली पास में रहे तो विषपान का भय नहीं हो सकता। उनका कथन है कि यदि द्रव विषयुक्त पदार्थ को ये गेंडे के सींग की प्याली में पीवें तो उसका विष नष्ट हो जाता है।

भारतीय गेंडे का प्रसार पहले अधिक क्षेत्रों में था। अकबर के काल में यह दिल्ली के निकट तक पाया जाता था। इसकी सींग

में रोग-निवारण शक्ति का अन्धविश्वास लोगों में होने के कारण इसका बध अधिक किया जाता रहा है जिससे इसकी संख्या बहुत ही कम हो गई है। एक सींग का मूल्य डेढ़ हजार रुपये तक मिल जाता है। १९२९ ई० में चीन में एक हजार गेंडों के मारे जाने की बात सुनी जाती है।

योरप में एकशृंगी गेंडे के पहले-पहल प्रदर्शन पाम्पाई नगर में होने का उल्लेख मिलता है जिसका वर्णन प्लिनी नाम के लेखक ने किया है। यह ईस्वी सन् पूर्व की बात है। द्विशृंगी या अफ्रिकीय गेंडे का प्रथम-प्रदर्शन ईसा पूर्व ३९ सन् में एक जल-अश्व (दरयाई घोड़े) के साथ सम्राट आगस्टस के सम्मुख क्लियोपाट्रा विजय के उपलक्ष में हुआ था।

हाथी की भाँति गेंडे की भी कई जातियाँ योरप तथा उत्तरी अमेरिका में पूर्वकाल में प्रचलित रही हैं। अब केवल दक्षिणी-पूर्वी एशिया और अफ्रीका में ही कुछ जातियाँ पाई जाती हैं। पूर्वी बंगाल से लेकर थाईलेंड (श्याम), सुमात्रा, जावा और बोर्नियो तथा अफ्रीका में सहारा मरुस्थल के दक्षिण भूभागों में गेंडे होते हैं। इसकी पाँच विभिन्न जातियाँ होती हैं :—

(१) भारतीय गंडक या एकशृंगी वृहद् गंडक (२) जावा गंडक या एकशृंगी लघुगंडक (३) सुमात्रा गंडक या द्विशृंगी सुवर्ण-गंडक (४) कृष्ण गंडक (५) श्वेत गंडक। कृष्ण गंडक और श्वेत गंडक अफ्रीका में पाये जाते हैं, उनमें यह विशेषता होती है कि कवचीय पट्टिका नहीं होती। दो सींगें होती हैं।

गेंडे में थूथन की सींग विशेषता होती है किन्तु जावा जाति के गेंडे की मादा में सींग का प्रायः अभाव होता है। एक विचित्रता यह देखी जाती है कि गेंडे के साथ एक छोटा पक्षी होता है जो उसके शरीर पर बैठकर किलनी या अन्य परोपजीवी कीटों को

चुनकर खाया करता है। ऐसा होने पर गैंडा सुख का ही अनुभव करता होगा, अतएव पक्षी को अपने शरीर पर बैठने के लिए ताड़ना देने का भाव उसमें नहीं आता होगा, परन्तु ऐसे सहयोग की एक और भारी उपयोगिता भी होती है। जब किसी संकट की आशंका होती है तो यह पक्षी उसके सिर के पास पर फड़फड़ाने लगता है। इस कारण जब पक्षी उसके शरीर पर नहीं होता तो गैंडे को कुछ बेचैनी सी रहती है।

एशियाई जाति के गैंडों में भारतीय और जावा जातियों में एक सींग होती है, ऊपरी जबड़े में एक जोड़े चौड़े कर्तनक (काटने वाले या सामने के) दाँत होते हैं। निचले जबड़े में पैनी किनारी युक्त तथा नोकीले एक जोड़े बहिर्मुखी दाँत (हाथी दाँत) होते हैं। त्वचा बाल हीन होती है। केवल पूँछ की छोर तथा कानों के किनारे बालों की झालर या गुच्छ होता है। त्वचा ढाल की तरह मोड़ों युक्त होती है परन्तु उन मोड़ों का इन दोनों जातियों में विभिन्न रूप होता है। भारतीय गैंडे के शरीर पर गोल बड़े मस्से होते हैं जिनका जावा जाति में अभाव होता है। सुमात्रा या सुवर्ण गैंडे में दो सींगें होती हैं। इसकी त्वचा, जो बड़ी भद्दी होती है, गहरे भूरे रंग के यथेष्ट बालों से प्रायः विरल रूप में अच्छादित होती है। इसकी त्वचा का मोड़ भारतीय एकशृंगीय गंडक समान अधिक विकसित नहीं होती। इसके निचले जबड़े में बहिर्मुखी दाँत होते हैं, किन्तु कर्तनक दाँतों के छोटे जोड़े दो अन्य एशियाई गैंडों में पाए जाने पर भी इस जाति में नहीं पाए जाते।

दोनों अफ्रिकीय जाति के गैंडों में दो सींगें होती हैं, परन्तु उनमें से किसी में भी कर्तनक दाँत नहीं होते। उनकी नासिकास्थि मोटी, गोल और सामने कटी या ठूंठ सी होती है। दोनों की त्वचा चिकनी और पूर्णतः बाल हीन होती है। केवल पूँछ की छोर तथा

कानों की किनारी पर ही झालर या रोम-गुच्छ होता है। श्वेत गंडक में मादा की ही सींग नर से बड़ी होती है।

एकशृंगी वृहद् गंडक

पर्या० नाम—गेंडा, गंड (हि०) गोर (आसाम०)

गेंडा की विद्यमान जातियों में वृहद् एकशृंगीय गेंडा सबसे सबसे बड़े आकार का होता है। नर का आकार कंधे के निकट छः फुट ऊचा होता है। कंधे के पीछे शरीर का घेरा ११ फुट होता है। औसत ऊँचाई ५ फुट ८ इञ्च होती है। भारतीय गेंडे की सींग अफ्रिकीय गेंडे के समान बड़ी नहीं होती। औसत तो १६ इञ्च लंबाई का है, परन्तु आसाम में २४ इञ्च लम्बी सींग के उदाहरण हैं।

एकशृंगी महा गंडक का शरीर रक्षा की प्रतिमूर्ति समझा
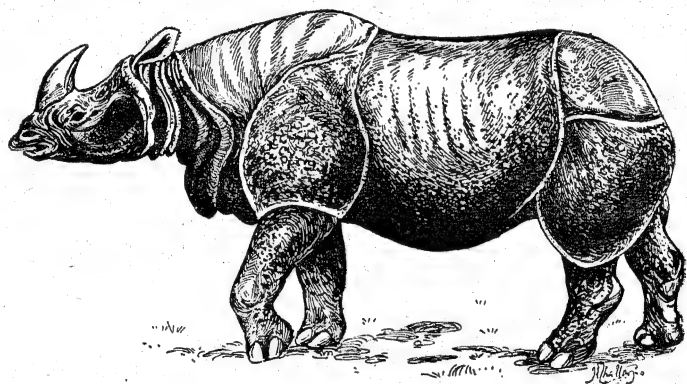
एकशृंगी वृहद् गंडक

जाता है। मनुष्य ने मध्यकालीन युग में गेंडे की त्वचा की ही शरण लेकर प्रतिद्वन्दी की तलवार के प्रहार को रोकने का साधन प्राप्त किया था। वह रक्षा का साधन ढाल कहलाता था। गेंडे में कंधों के

आगे तथा पीछे तथा जंघे के आगे की त्वचा अनेक मोड़ों के द्वारा दीर्घकवच या ढाल रूपों में विभक्त रहती है। कंधे के सम्मुख का त्वचा-मरोड़ पीठ पर पीछे तक बढ़ा नहीं होता। यह इस गेंडे की स्पष्ट पहचान होती है। पार्श्वभाग, स्कंध, तथा पिछले पैरों पर त्वचा में गोल दीर्घ मस्से या अर्बुद-कवच से भरे होते हैं। विशालकाय शरीर, लम्बा नावनुमा सिर, त्वचा के मरोड़ों रूप के कवच तथा शल्कीय खाल के कारण यह जन्तु एक पूर्वकालीन दानवाकार जीव ज्ञात होता है। मादा से नर को पहचान करने के लिए उसकी छोटी सींग निर्देशक होती है जो प्रतिद्वन्दी नरों से संघर्ष करने के कारण छोटी, स्थूल तथा कुन्द बन गई होती है। मादा की सींग नोकीली तथा लम्बी होती है ।

एकशृंगी महा गंडक का प्रसार-क्षेत्र नेपाल तथा आसाम के सीमित भूभागों में है। नेपाल में गंडक नदी के पूर्व के भाग में ही पाया जाता है। आसाम में मैदानी भागों में पाया जाता है। कभी पहले इसका भारत के अधिक भूभागों में प्रसार था ।

एकशृंगी लघु गंडक

स्था० नाम०—स्पेन सेन (बर्मा), वारक (जावा), बाडक (मलाया),

लघु एकशृंगीय गेंडा मलाया तथा जावा का गेंडा है। भारतीय जाति से यह छोटा होता है, फिर भी इसका शरीर भारी भरकम ही होता है। वयोवृद्ध नरों की ऊँचाई स्कंध देश के निकट ५ फुट १० इञ्च होती है। एक मात्र सींग होती है जिसकी औसत लम्बाई कम ही होती है किन्तु लगभग ११ इञ्च लम्बाई के उदाहरण हैं ।

एकशृंगी बृहद् गंडक तथा एकशृंगी लघु गंडक में विशेष

वभिन्नता यह है कि एकशृंगी लघुगंडक में त्वचा का मरोड़ कंधे के पीछे पूरी पीठ तक फैला होता है। रंग-बिरंगे प्रस्तर खंडों से जटित तल की भाँति अर्बुदीय कवचमय त्वचा का रूप प्रतिभासित होता है। मादा में सींग का विशेष विकास नहीं हुआ होता। यदि सींग होती है तो गौण खूँट समान ही दीखती है।

पूर्व काल में कदाचित् एकशृंगी लघु गंडक का प्रसार-क्षेत्र बंगाल, आसाम से लेकर मलाया तथा सुमात्रा तक था किन्तु आज इसका प्रसार मलाया प्रायद्वीप तथा जावा में ही संरक्षित भूभागों में है। वहाँ भी अल्पसंख्यक ही बच रहे हैं। बंगाल में इस गेंडे के आज भी विद्यमान रहने का पुष्ट प्रमाण सुलभ नहीं है।

द्विशृंगी सुवर्ण गंडक

स्था० नाम—क्योनशान (बर्मा), बोडक (मलाया)

द्विशृंगीय गंडक सुमात्रा द्वीप में पाए जाते हैं। उन्हें
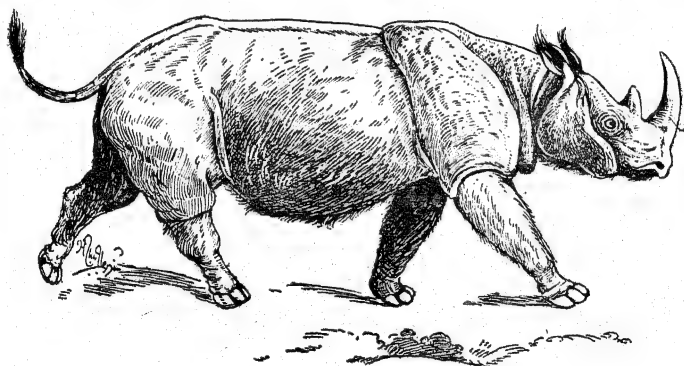
द्विशृंगी सुवर्ण गंडक

सुमात्रा के प्राचीन नाम सुवर्ण द्वीप के नाम पर सुवर्ण गंडक कह

सकते हैं। कंधे के निकट उसकी ऊँचाई ४ फुट ४½ इञ्च होती है। कंधे के पीछे शरीर का घेरा ७ फुट होता है।

एशिया की दो गंडक जातियों से द्विशृंग गंडक की स्पष्ट विभिन्नता यह है कि इसमें दो सींगें होती हैं। दूसरी विभिन्नता यह भी है कि भारतीय तथा जावा के एकशृंगीय गंडकों में निम्न हनु में दो जोड़े कर्तनक या सामने के दाँत होते हैं परन्तु एशियाई द्विशृंग गंडक में एक ही जोड़े कर्तनक दाँत निचले जबड़े में पाए जाते हैं। अन्य विभेद आंतरिक होते हैं जो कपाल तथा आँतों की रचना में प्रकट होते हैं। शरीर का अधिकांश भाग रक्तिम भूरे से लेकर काले रंग तक के मोटे कड़े बालों से आच्छादित होता है। शरीर तथा कान की किनारी के बाल आयु बढ़ने पर झड़ जाते हैं।

द्विशृंग गंडक का प्रसार साधारण रूप में बर्मा तथा आसाम में यथेष्ट संख्या में था। आज बर्मा के कुछ स्थानों में ही पाया जाता है। आसाम से बिलकुल ही लुप्त हो चुका है। बर्मा में निम्न तनासरिम के जंगलों तथा मिचकिना, अराकान पीगूयोमा आदि की पहाड़ियों में मिलता है।

कृष्ण गंडक

अफ्रीका के गेंडों में काला गेंडा अधिक होता है। इसके शरीर की लम्बाई ११¾ फुट तक होती है। उसके अतिरिक्त पूँछ की लम्बाई दो फुट होती है। कंधे के निकट ऊँचाई ५ फुट ८ इञ्च होती है। ऊपरी ओठ नोकीला और ग्रहणशील होता है। दो सींगें होती हैं। आगे वाली सींग लम्बी होती है। वह ३१ इञ्च से अधिक कदाचित ही होती हो परन्तु ५३½ इंच लम्बी सींग के भी नमूने हैं। पिछली सींग २४¾ इंच तक लम्बी पाई गई है।

त्वचा बालहीन होती है। रंग स्लेटी धूसर होता है। उसमें मोड़ों का अभाव होता है। इसका प्रसार पहले तो दक्षिणी छोर की आशा अंतरीप (केप आफ गुड होप) से लेकर सुमालीलैंड, अबीसिनिया और सूडान तक तथा पश्चिम में पश्चिमी और मध्यवर्ती शुष्क पठारों पर था, किन्तु अब अनेक क्षेत्रों से लुप्त हो गया है। इसके निवास स्थल प्रायः खुले झाड़-झंखाड़ के मैदान हैं किन्तु कभी-कभी जंगलों और पर्वतीय अंचलों में भी पाया जाता है। यह मुख्यतया रात्रिचारी होता है। इसका आहार पत्तियाँ, घास और जड़ है। यह एकाकी या जोड़े रूप में रहता है। कभी-कभी तीन या चार की मंडली में भी पाया जाता है।

कृष्ण गंडक के प्रायः दो सींग होती है जो मुख पर आगे और पीछे होती है। तीन सींगों के गेंडे का भी नमूना पाया गया है। विभिन्न कृष्ण गंडकों में विभिन्न आकार की सींगें होती हैं, परन्तु अगली सींग ही अधिकांश में लम्बी होती है। ऐसे गंडकों को अफ्रीका निवासी "बोरेली" कहते हैं। परन्तु जिस कृष्ण गंडक में अगली और पिछली दोनों सींगें बराबर लम्बी होती हैं या पिछली सींग ही अधिक लम्बी होती है, उसे "केइटोला" कहते हैं।

कृष्ण गंडक जिन झाड़ियों में रहता है, वह जड़ और तनों के सघन जमघट के कारण दुर्भेद्य स्थान होता है किन्तु वह बार-बार आ-जाकर भीतर चौड़ा खुला स्थान बना लिए होता है मानो वह उसका घर हो। पैरों के बार-बार रौंदने से भूमि भी वहाँ नीची हो गई होती है।

कृष्ण गंडक को प्रायः भीषण तथा उग्र वृत्ति का कहा जाता है किन्तु एक प्रसिद्ध शिकारी का कथन है कि वह डरपोक होता है। ऐसा अवश्य होता है कि उस पर कुछ उत्तेजना का प्रभाव

कभी-कभी होता प्रतीत हो जिसमें साँड़ की भाँति वह भूमि को कई गज सींग से खोद डालता है तथा बड़ी झाड़ियों को बड़े भयानक रूप से मर्दित करता है। घन्टों तक झाड़ियाँ खंडित-मंडित करता रहता है तथा दहाड़ता और चिंघाड़ता भी जाता है। अंत में झाड़ी छिन्न-भिन्न होकर रहती है।

कृष्ण गंडक बुद्धू तथा निश्चिन्त जन्तु प्रतीत होता है क्योंकि कोई अन्य जन्तु उस पर आक्रमण नहीं कर सकता। किसी प्रौढ़ गेंडे से सिंह भी कभी छेड़खानी नहीं कर सकता। किन्तु प्रौढ़ सूअर के बराबर आकार तक के शिशु गेंडे को वह मार सकता है।

श्वेत गंडक

हाथी के पश्चात् श्वेत गंडक सबसे बड़ा स्थलचर कहा जा सकता है। इसकी लम्बाई १४½ फुट तक होती है। इसके अतिरिक्त २ फुट लम्बी पूँछ होती है। स्कंधीय ऊँचाई ५⅔ फुट होती है। ऊपरी ओठ भद्दे रूप से विकृत होता है। दो सींगें होती हैं। अगली सींग की लम्बाई दक्षिणी उपजाति में ६२½ इंच तक पाई जा सकी हैं। पिछली सींग दो फुट लम्बी होती है। उत्तरी उपजाति में ४५¾ इंच तक लम्बी होती है। त्वचा नग्न और धूसर होती है। कृष्ण गंडक की अपेक्षा धुँधला रंग होता है।

श्वेत गंडक की दक्षिणी उपजाति का पहले दक्षिणी अफ्रीका में अधिक क्षेत्रों में प्रसार था। अब केवल जुलूलैंड में संरक्षित रूप में २०० गेंडे पाए जाते हैं। नील नदी का श्वेत गंडक उत्तरी उपजाति कहलाता है। ऊपरी नील से लेकर बेलजियम कांगो के उडले जिले तक प्रसार पाया जाता है। यह घास के मैदानों में अकेले या पारिवारिक मंडली में पाया जाता है। मुख्यतया रात्रिचारी होता है। विशेषतया घास ही खाता जान पड़ता है।

श्वेत गंडक को वर्गमुखी भी कहा जाता है, अन्य गंडकों में जहाँ ऊपरी ओठ नोकीला ही होता है, इस गण्डक का ऊपरी ओठ ठूँठ या छोर कटे हुए भाग समान हो जाता है। इसी कारण चौकोर वर्गमुखी नाम दिया जा सकता है। इसकी अगली सींग कृष्ण गण्डक की अपेक्षा प्रायः अधिक लम्बी होती है। अगली सींग अनिवार्यतः पीछे की ओर मुड़ी होती है किन्तु कभी-कभी बिल्कुल सीधी भी होती है। केवल थोड़ा सा आगे झुकाव ही होता है।

कृष्ण गण्डक की वृत्ति से श्वेत गण्डक की वृत्ति भिन्न होती है। कृष्ण गण्डक अपना थूथन जहाँ ऊपर कर ही चलता है, वहाँ श्वेत गण्डक अपना थूथन भूमि के निकट कर ही चलता है। शिशु गंडक का माता के साथ चलने का अवसर होने पर कृष्ण गण्डक का शिशु पीछे-पीछे चलता है। परन्तु श्वेत गण्डक का शिशु सदा आगे-आगे ही चलता है।

मिथ्याशुन्डी (टापिर) वंश

टापिर विषम संख्या के खुरों वाले जन्तु हैं। इनका शरीर भारी-भरकम होता है। उस पर छोटे बाल उगे होते हैं। कंधे के निकट ३ फुट से लेकर साढ़े चार फुट तक ऊँचाई होती है। मुख लम्बोतरा होकर एक ठूँठ, गतिशील शुंड रूप में होता है। अगले पैरों में चार और पिछले में तीन-तीन अंडाकार पादांगुलियाँ होती हैं। पूँछ बहुत छोटी होती है। कुछ-कुछ बनैले सूअर का रूप जान पड़ता है। प्रौढ़ टापिर का रंग मटमैला होता है। शरीर के मध्य-वर्ती भाग का रंग श्वेत होता है। अल्पवय टापिरों के शिशु का रंग चित्रित या पट्टित होता है। यह निरापद रात्रिचारी जन्तु है। घने जङ्गलों में पत्तियाँ खाकर रहता है। यह एकाकी रहता है। दक्षिणी-पूर्वी एशिया और अमेरिका के उष्ण कटिबंध में पाया जाता है।

यह विचित्र डीलडौल का जन्तु है। इसका सम्बन्ध एक ओर तो गेंडे से होता है, दूसरी ओर अश्व से होता है। वे जिस श्रेणी के जन्तुओं में हैं, उन सबकी अपेक्षा सबसे कम कायापलट ही कर सके हैं। यह बात हमें इस जन्तु के प्राचीन प्रस्तरावशेषों के अध्ययन से ज्ञात होती है। बहुत ही प्राचीनकाल के एक प्रस्तरावशेष का आज के टापिर के आकार से भेद बता सकना कठिन प्रतीत होता है।

टापिर का मुख सूअर समान थूथन प्रकट करता है, किन्तु उसमें ऊपरी ओठ का बढ़ा हुआ रूप क्षुद्र या मिथ्याशुंड कहा जा

सकता है। इसी कारण इसका नाम मिथ्याशुण्ड कहा जा सकता है।

टापिर के पैर सूअर समान न होकर गेंडे समान होते हैं। इसके अगले पैरों की उँगलियाँ घोड़े समान खुर या टाप से आवेष्टित होती हैं।

टापिर लज्जालु तथा अहिंसक पशु है। यह पानी के निकटवर्ती सघन बनों के निर्जन स्थल में रहता है। पानी से इसे विशेष प्रेम है। कहा जाता है कि यह पानी में डुबकी लगाकर नदी के पेटे में चलता है। मक्खियों के कष्ट से बचने के लिए यह सूअर की तरह पंक में लोट-पोट भी होता रहता है। यह संध्याकाल या रात में देर तक पेड़ों की कोंपल झाड़ियाँ, पत्तियाँ, तथा भूमि पर गिरे फल खाया करता है।

मोटी खाल की खोज में मूलवासी टापिर का शिकार करते हैं। लगाम की रस्सी रूप में इसके चमड़े की पट्टी काम आती है। कुछ लोग मांस भी खाते हैं। इसके पकड़ने की तीन विधियाँ हैं। दक्षिणी अमेरिका में चमड़े के फंदे से यह कभी-कभी पकड़ा जाता है। पानी पीते जाते समय मार्ग में बहुत से कुत्तों द्वारा आक्रमण कराकर भी इसे मारा जाता है परन्तु मरने के पूर्व कितने ही कुत्तों की जान ले चुका रहता है। कुछ लोग तो इसकी झूठी बोली मुँह से निकाल कर निकट बुलाते हैं और धोखे में मार डालते हैं।

टापिर को बंदी कर सहज पालतू बना लिया जाता है। दक्षिणी अमेरिका के नगरों की अनेक सड़कों पर यह घूमता पाया जा सकता है। दिन को जंगलों में घूमकर यह संध्या को चारा पाने के लिए वापस आ जाता है और बड़ा स्नेह भाव प्रदर्शित करता है।

मलय टापिर को छोड़कर अन्य टापिर की जातियाँ काली या गहरी भूरी होती हैं। उनके शरीर भर का एक समान रंग होता है,

परन्तु मलय टापिर काला और श्वेत होता है। यह विचित्र बात है कि टापिरों के शिशु चित्रित या पट्टित होते हैं। उनके शरीर की पृष्ठभूमि श्वेत या हल्की भूरी होती है। ऐसा रंग बनैले सूअरों का होता है।

टापिर की पाँच जातियाँ पाई जाती हैं। चार तो दक्षिणी अमेरिका में ही पाई जाती हैं। केवल एक जाति मलाया में पाई जाती है। किन्तु बहुत ही प्राचीन काल में प्रस्तरावशेषों द्वारा उसका प्रसार योरप के अर्द्ध ऊष्ण या शीतोष्ण क्षेत्रों में प्रमाणित होता है। चीन तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी इसके प्रस्तरावशेष मिले हैं।

टापिर इतना डरपोक होता है कि कुत्ते के सामने भी भाग जाय परन्तु कभी-कभी यह अद्भुत साहस भी दिखा सकता है। यदि कोई मादा से बच्चा छीन ले तो वह अपना भयंकर रूप प्रकट कर प्रहार करती है। वह बड़े जोश से चोट कर उस जन्तु को नीचे गिरा कर रौंद डालती तथा दाँतों से काट खाती है।

मनुष्य को छोड़कर टापिर का दूसरा बड़ा शत्रु जगुआर होता है। मलाया में जगुआर के स्थान पर बाघ सबसे प्रबल शत्रु होता है। अमेरिकीय टापिर पूर्ण बल से घने जङ्गल में भाग कर जगुआर से जान छुड़ाता है। वह उसके पीछे से भाग निकलता है। जगुआर के पंजे उसकी मोटी खाल को पकड़ सकने में कठिनाई अनुभव कर सकते हैं। टापिरों की पीठ पर चारों ओर चोट के चिह्न दिखाई पड़ सकते हैं जो जगुआर से भयंकर मुठभेड़ के कारण उत्पन्न होते हैं।

टापिर अश्ववंश का निकटवर्ती ही है, परन्तु जहाँ अश्व में युगों के बीतने पर आकार में कायापलट ही हो गया .और विशेष-तया दाँत तथा पैर का घोर परिवर्तन हुआ है वहाँ टापिर में इतने लम्बे युगों में भी परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। आधुनिक टापिर,

गेंडे तथा पूर्व कालीन विलुप्त अश्वों के पुष्ट छोटे पैर तथा फैली हुई पादांगुलियाँ ऐसे स्थल पर चलने के लिए निर्मित मानी जा सकती हैं जो नर्म और धसान वाली हो। नदी की तटीय तथा नरकुलों की आधार भूमि ऐसे रूप की ही होती है। जङ्गलों के छायेदार स्थल भी ऐसे ही होते हैं। ऐसी भूमियों में गति की कोई आवश्यकता नहीं होती। भोजन प्रचुर मात्रा में निकट ही सुलभ होता है। शत्रुओं से रक्षा पाने के लिए भागने के स्थान पर घनी हरियाली में ही छिप जाना यथेष्ट हो सकता है। अपेक्षाकृत सूखे स्थानों में प्रवासित होने से पैरों की रचना में परिवर्तन पाया जाता हैं। फैलती हुई पादांगुलियाँ बदली पाई जाती हैं। छोटी पादांगुलियों की जगह बड़ी पादांगुलियाँ बनी हैं तथा मध्यवर्ती पादांगुलि दीर्घकाय होकर अन्य पादांगुलियों को लुप्त बना सकी है परन्तु घोड़ों में जहाँ इतना परिवर्तन हुआ वहाँ टापिर ने अपना निवास-स्थान न बदलने के कारण ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता नहीं रक्खी। यों भी कह सकते हैं कि जहाँ परिस्थिति बदली, वहाँ उसके अनुरूप शरीर के अंगों का परिवर्तन न कर सकने से उन भूभागों में लुप्त ही हो गया।

मलय टापिर

स्था० न म—ता-रा-गू (बर्मा), कुडा अयेर (मलाया) राला डंग, गिंगोल (सुमात्रा), तेनू (मलक्का)

मलाया प्रायद्वीप में पाया जाने वाला विचित्र जन्तु टापिर कंधे के निकट तीन या साढ़े तीन फुट ऊँचा होता है। कटिप्रदेश के निकट इससे कुछ अधिक ऊँचा होता है।

मलय टापिर विचित्र जन्तु है, जो पूर्वकाल के अनेक विलुप्त हो चुके जन्तुओं के समकक्ष का कहा जा सकता है किंतु किसी प्रकार

आज भी सीमित क्षेत्रों में विद्यमान है। इसके पिछले पैरों में गैंडे की भाँति तीन पादांगुलियाँ होती हैं। किन्तु अगले पैरों में चार
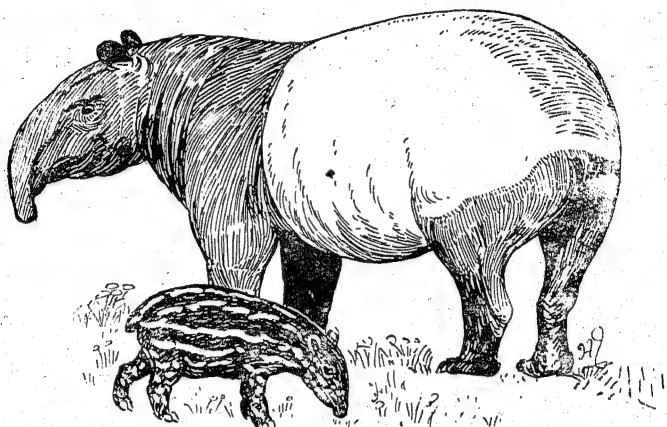
मलय टापिर तथा शिशु टापिर

पादांगुलियाँ होती हैं। अगले पैर की पादांगुलियों में से तीन तो मनुष्य की मध्यवर्ती अँगुलियों की समवर्ती होती हैं तथा बाहरी चौथी पादांगुलि, कनिष्ठिका, अन्तिम छोटी अँगुली की समवर्ती होती है।

चर्वणक या चहू के दाँतों में शीर्ष पर दो सादे आड़े शिखर होते हैं किन्तु गैंडों तथा घोड़ों में इसके विपक्ष दाँत के शीर्ष पर दंतवेष्ठ (इनेमल) की पेचीदी मोड़ें होती हैं।

मलय टापिर का शरीर भारी बेडौल होता है। पैर ठिंगने तथा मोटे होते हैं। थूथन लम्बा होकर एक शुन्ड सा धारण किये होता है। नेत्र छोटे होते हैं, कान अंडाकार होते हैं, पूँछ बाँड़ी या कटी सी होती है। ये सब अंग-रचनाएँ उसकी रूपरेखा को विचित्र-सा

बना देती हैं। अमेरिका में भी एक टापिर होता है परन्तु मलय टापिर बड़ा होता है और शरीर पर दो विभिन्न रंग होते हैं। सिर, पैर, शरीर का अगला भाग भूरामय काला होता है। शेष भाग कंधे के पीछे धूसरमय श्वेत होता है। अमेरिकीय टापिर का रंग सर्वांग भूरा होता है किन्तु दोनों के शिशु का शरीर पट्टित होता है।

मलय टापिर का प्रसार केवल सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप में है। दक्षिणी तनासरिम (बर्मा) में भी कभी-कभी चला आता है।

अश्व वंश

घोड़े को पालतू बनाने की सफलता सभ्य मानव को कांस्य (काँसा) बनाने के युग में ही प्राप्त हो गई थी। योरोपीय पालतू घोड़े का प्रतिनिधित्व लगभग १६०० वर्ष ईसा पूर्व दक्षिणी स्वेडन की शिलानिर्मित गुफा की दीवाल पर चित्रित मिलता है। किन्तु संसार में पालतू घोड़ों के तीन पृथक् स्रोत कदाचित् थे। प्रथम स्रोत हिन्द-जर्मन, दूसरा पश्चिमी योरोपीय तथा तीसरा मंगोलीय था। हिन्द-जर्मन नस्ल की उत्पत्ति टारपन या किसी प्राचीन निकट-वर्ती अश्व जाति से हुई थी। इस नस्ल की ठटरी हल्की होती है, माथा चौड़ा होता है तथा नेत्र बड़े होते हैं। इस उपजाति को पालतू बनाने का कार्य ईसा के तीन सहस्र वर्षों पूर्व कदाचित् दक्षिणी रूस में आर्य जातियों द्वारा सम्पन्न हुआ था तथा उस जाति के पालतू घोड़ों को शीघ्र ही योरप, मिस्र, तथा एशिया के पश्चिमी भागों में प्रसारित किया जा सका। वहाँ से उसका व्यापक प्रसार अफ्रीका तथा दक्षिणी एशिया में सेलेबीज द्वीप तक हो गया। कभी-कभी यह टट्टू की उपजाति रूप में भी था। योरप में इसका स्थान कालान्तर में पश्चिमी योरप की जाति तथा मंगोलीय जाति के पालतू घोड़े ने लिया। इस जाति का सुन्दर नमूना अरबी घोड़े रूप में पाया जाता है। पश्चिमी योरोपीय जाति के अश्व की उत्पत्ति कदाचित् किसी पश्चिमी योरप के जंगली घोड़े से हुई। वह मूल जाति कदाचित् रोम के उत्थान काल तक स्पेन में विद्यमान थी।

यह लम्बा, पुष्ट तथा भारी कङ्काल तथा लम्बोतरे पतले सिर युक्त पशु था। मंगोलीय जाति की उत्पत्ति मुख्यतः मंगोलीय वन्य अश्व से हुई। इसका शुद्धतम रूप मंगोली टट्टू है।

घोड़े के नाम भारतीय साहित्य में निम्न हैं :—

घोटको वीति तुरग तुरंगाश्व तुरंगमः।
वाजि वाहोर्वगन्धर्व हय सैन्धवसप्तयाः॥

अर्थात् घोटक, वीति, तुरग, तुरंग, अश्व, तुरंगम्, वाजि, वाह, ऊर्व, गंधर्व, हय, सैन्धव और सप्ति घोड़े के नाम हैं।

यथार्थ में ये नाम केवल पर्याय हैं या इनमें कुछ उपजातियों के नाम हैं, इसे विद्वान् ही बता सकते हैं। जन्तुविज्ञान विशारदों ने आज की नस्लों की छानबीन कर जो तथ्य ज्ञात किया है, वह यह है कि संसार में आज वन्य रूप में पाए जाने वाले अधिकांश अश्वों को पालतू अश्वों की ही संतति कहना चाहिए। मनुष्य ने इस पशु को बहुत पहले ही विभिन्न भूभागों में पालतू बनाने का प्रयत्न कर लिया था। अतएव उनके ही कुछ वंशज अश्वों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पुनः जंगली बन जाने का अवसर मिला। आस्ट्रेलिया और योरप के वन्य अश्वों को निश्चित रूप से आज के पालतू अश्व जातियों की संतान सिद्ध किया गया है। योरोपीय वन्य अश्वों के विषय में अवश्य यह विचार है कि ये यथार्थतः मूल जंगली अश्व ही हैं जिनसे योरोपीय जाति के पालतू अश्व का विकास हुआ है। सभ्यता के उदय होने के पूर्व में वन्य अश्व योरप में व्याप्त थे, किन्तु अब वन्य रूप में केवल एजोव सागर के उत्तर के स्टेपी मैदान में नीपर नदी तथा कैस्पियन सागर के मध्य पाए जाते हैं। इनका ही नाम टार्पन अश्व है।

टार्पन या योरोपीय वन्य अश्व उन विशाल वन्य अश्व मंडलियों के ही अवशिष्ट भाग हैं जो किसी समय सभ्यता उदय

होने के पूर्व वन्य मानव के भोजन का अधिकांश भाग बनते थे। इस बात के कई स्पष्ट प्रमाण हैं। फ्रांस के दक्षिणी भाग की गुफाओं में उनके प्रस्तरावशेषों के प्रचुर अंश उनके आखेटक पुरुषों के अवशेष के साथ-साथ प्राप्त होते हैं। इससे भी अधिक प्रमाण अपेक्षाकृत कुशल पुरुषों द्वारा चित्रित भद्दे चित्रों द्वारा मिलता है जो अस्थियों तथा मृगशृङ्गों के खंडों पर खचित प्राप्त होते हैं। इन चित्रांकनों द्वारा ज्ञात होता है कि वे जिस अश्व का आखेट करते थे, वह क्षुद्राकार तथा भारी शरीर का था। उसका सिर बड़ा, अयाल और पूँछ झबरी होती थी।

यह रूप तो उपर्युक्त वर्णित टार्पन मे ही मिलता-जुलता है किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के सुलभ होने के बहुत पूर्व ही अश्व अवश्य ही पालतू बना लिए गये होंगे। मनुष्य ने अनुभव द्वारा यह ज्ञात किया होगा कि अश्व को बधकर मांस प्राप्त करने की अपेक्षा जीवित रूप में अधिक उपयोगी पाया जा सकता है। उस अनुभव के प्राप्त करने के पश्चात् ही अश्व मनुष्य के चिर सहयोगी हो गए।

जन्तु-विज्ञान-वेत्ताओं का कथन है कि योरोपीय वन्य अश्व की सन्तानों का कदाचित् लोप ही हो गया और अब अधिकांशतः एशियाई वन्य अश्व की ही सन्तान योरप में पालतू अश्वों रूप में पाई जाती है। ये पशु कदाचित और भी अधिक पूर्व काल में पालतू बने होंगे। मिस्र में पालतू होने वाले पशुओं में अश्व का पूर्ववर्ती वन्य गधा था किन्तु १६०० वर्ष ईसा पूर्व में रथवाहक रूप में अश्व पाया जाता है। किन्तु जब से अश्व एक बार पालतू बना लिया गया, इसकी उत्तम नस्लें उत्पन्न होने के प्रयत्न बराबर होते आए। फलतः घोड़ों की अनेक नस्लें पाई जाती है। घोड़ों का रंग तो प्रायः सपाट या सर्वांग एक रूप होता है, परन्तु उसमें

कभी-कभी कुछ पट्टियाँ भी पाई जाती हैं। विद्वानों का विचार है कि पहले किसी पट्टित अश्व का ही जन्म हुआ होगा। उसी से अन्य पालतू अश्वों का विकास हुआ परन्तु कभी-कभी आज की नस्लों में वह रूप पुनः उदित सा हो उठता है। इस कारण उनके शरीर में कभी-कभी पट्टियाँ दिखाई पड़ जाती हैं।

घोड़े का आकार-प्रकार देखकर एक विद्वान् का कथन है कि यदि आज एक खुर या एक शफ के इस पशु का उदय न हुआ होता और कहीं वर्णनों में यह पढ़ने को मिलता कि किसी जन्तु का रूप एक खुरवाले पैरों युक्त होता है या सम्भव है तो हमारे विस्मय का ठिकाना नहीं रहता किन्तु बात उलटी ही है। पहले के युगों में अनेक खुरों या शफों के पशु होते आए हैं जो अश्व के पूर्वज थे। उनसे ही इस एकशफी या एकखुरीय जंतु का उदय हो सका है।

घोड़े के एक खुरवाले पैर का रूप जितने भी पुराने अन्य रूपों से विकसित होकर आज की स्थिति में पहुँचा है, उन सब के शृङ्खलाबद्ध रूप प्रकट करने वाले बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष सुलभ हो सके हैं। इसका रूप कैसे-कैसे आवश्यकताओं के अनुसार ही परिवर्तित होता गया, इसका प्रत्यक्ष दर्शन प्रस्तरावशेषों द्वारा कर सकना बड़ा ही कौतूहलवर्द्धक विषय है। अश्व के वर्तमान खुर की पूर्व रूपों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह हमारी उँगलियों में से मध्यवर्ती उँगली या किसी भी ओर हाथ या पैर की उँगलियों को गिनने पर पाँच उँगलियों में से तीसरी उँगली का स्थानवर्ती है। इसका विकास अन्य सभी उँगलियों के लोप होते जाने पर हुआ। मध्य की केवल यह उँगली ही बच रही। दूसरी और चौथी उँगलियाँ केवल पार्श्ववर्ती अस्थिरूप में बीच की विकसित उँगली के निकट रह गई।

घोड़े और गधे में यह अन्तर होता है कि घोड़े की पूँछ में पूर्ण आकार में लम्बे बाल चँवर (चमर) रूप में होते हैं किन्तु गधे में केवल पार्श्व तथा छोर से ही बाल उगे रहकर गुच्छ बनाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि घोड़े के पिछले पैरों में गुल्फ के जोड़ (टखने) के ठीक नीचे प्रत्येक ओर एक बड़ा काला चपटा मसा-सा उभाड़ होता है। इसकी उपयोगिता का कुछ ज्ञान नहीं है। अगले पैर में भी भीतरी भाग में घुटने के जोड़ के ऊपर ऐसे एक जोड़े मसे समान उभाड़ पाए जाते हैं। अगले पैर वाले उभाड़ तो गधों में भी होते हैं, परन्तु पिछले पैर के मसे-से उभाड़ केवल घोड़ों में ही होते हैं।

अरबी घोड़ा

अरबी घोड़ा पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका का पालतू पशु है। यह टार्पन के समान वन्य अश्व की शुद्ध सन्तान है। आज से ठीक कितनी अवधि पूर्व इसको पालतू बनाया गया, यह तथ्य कदाचित् कभी ज्ञात न हो सके, परन्तु यह ज्ञात होता है कि ईसा के बाद तीसरी शताब्दी तक अरब निवासी ऊँट की सवारी करने वाले ही थे किन्तु छठीं ईस्वी तक उनके पास ऐसे घोड़े की नस्ल पालतू पाई जाती है जिसका वे बड़ा आदर करते थे तथा उसे अपने पूर्वजों की देन बतलाते थे। कदाचित वे पशु काकेशस या एशियाई कोचक (एशिया माइनर) से वहाँ पहुँचाए गए थे। ये अरबी घोड़े कदाचित् बार्ब नामक घोड़ों की नस्ल के साथ योरप में उस समय पहुँचे जब अरब-वासियों ने आठवीं और नवीं शताब्दी में स्पेन पर आक्रमण किया। वे अपना चिन्ह अंडालूशिया तथा फ्रांस के एक भाग में छोड़ गए। अरबी घोड़े की उपयोगिता लम्बी यात्रा कर सकने के साहस और पराक्रम में है। इसी कारण इन्हें युद्ध

में सफलतापूर्वक उपयुक्त किया जा सकता है। लंबी यात्रा करने या युद्ध में आक्रमण कर लेने के पश्चात् भी ये आवश्यकता होने पर भाग सकने के लिए नवीन स्फूर्ति ही रखते हैं या भागते हुए शत्रु पर अंतिम प्रहार करने के लिए तैयार मिल सकते है। उनका साहस भी अद्भुत होता है। खाने-पीने का अभाव भी सहन कर लेने की शक्ति रखते हैं।

अरबी घोड़े का रंग विभिन्न होता है। श्वेत अरबी घोड़ा उत्तम माना जाता है। किन्तु कुम्मैत (लाल भूरे) बादामी रंग के घोड़े बहुसंख्यक होते हैं। काला कम ही होता है। यह एक आश्चर्य की बात है कि श्वेत नस्ल की सन्तान श्वेत कभी भी नहीं होगी।

बार्ब अश्व

यह अफ्रीका की नस्ल है। एशियाई नस्ल के घोड़े से इसमें यह अंतर होता है कि पैर लंबे होते हैं। कमर के निकट धड़ का घेरा कम होता है। यह अधिक समय तक भूख प्यास सहन करने की शक्ति रखता है। इसका मूल स्थान बार्बरी था। इसलिए उसके नाम पर इसकी नस्ल बार्ब कहलाती है। यह अरबी घोड़े से बड़ा होता है।

ईरानी अश्व

यह अरबी घोड़े से मिलता-जुलता किन्तु प्रायः उससे बड़े आकार का होता है। दक्षिणी ईरान में दुर्बल शरीर का ही होता है।

पालतू घोड़ों की नस्लें उत्तम करने के लिए भिन्न-भिन्न उत्तम नस्लों के संयोग से वर्णसंकर संतानें उत्पन्न करने का परिणाम बड़ा ही विस्मयजनक हुआ। आज ऐसी मिश्रित नस्लों के कितने

ही प्रकार बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। घुड़दौड़ के सुन्दरतम घोड़े की नस्ल इङ्गलैंड में उत्पन्न की जाकर विश्व-प्रसिद्ध हुई हैं। इन तीव्र-गामी तुरंगों में 'थारोब्रेड' नामक नस्ल अनुपम है। इसे घुड़दौड़ के घोड़ों या वेगगामी तुरंगों का शिरमौर ही कह सकते हैं। यह उत्कृष्टतम ब्रिटिश नस्ल का अरबी नस्ल से संयोग कराकर उत्पन्न किया जा सका है। अमेरिका की सबसे वेगगामी नस्ल ट्राटिंग हार्स कहलाती है जो इङ्गलैंड में पले अरबी नस्ल के अश्व का बार्ब नस्ल के अश्व से संयोग कराने से उत्पन्न हुई है। योरप में रूस ही एक ऐसा देश है जहाँ एक पृथक नस्ल का ही वेगगामी अश्व (घुड़दौड़ का घोड़ा) पाया जाता है। इसका नाम डगर लोफ है परन्तु यह अमेरिकीय वेगगामी अश्व की गति से होड़ नहीं ले सकता। उसमें सहन शक्ति अवश्य अधिक होती है।

हंटर या शिकारी नस्ल का भी कोई अश्व कहा जाता है। किन्तु इसकी कोई पृथक नस्ल नहीं होती। कोई भी सवारी का उत्तम घोड़ा शिकारी बनाया जा सकता है। घुड़दौड़ के घोड़ों का स्थानीय नस्ल के घोड़ों से संयोग कराकर इनकी उत्पत्ति होती है। घोड़े के लिए यही आवश्यक होता है कि गर्दन तथा वक्षस्थल मांसल हो। शरीर छोटा ही हो। पैर छोटे तथा पुष्ट हों।

सवारी तथा बग्घी, ताँगे आदि के घोड़े भी विशेष उपयोग के कारण विशेष रूप के उत्पन्न कराए जाते हैं किन्तु हंटर या शिकारी की अपेक्षा ये अधिक पृथक रूप की नस्ल के होते हैं। हंटर या शिकारी घोड़े की अपेक्षा कुछ पुष्ट नस्ल से तीव्रतम वेगगामी (थारोब्रेड) का संयोग कराने से रथवाहक या आरोही अश्व उत्पन्न कराए जाते हैं।

मनुष्य के प्रयत्न द्वारा अश्व की उत्तम नस्ल उत्पन्न करने का एक उल्लेखनीय उदाहरण ब्रिटिश नस्ल थारोब्रेड के सम्बन्ध में

पाया जाता है। इसका निरन्तर इतना सुधार किया जाता रहा है कि १७०० ई० से प्रति पच्चीस वर्ष की अवधि में उसकी एक-एक इञ्च ऊँचाई अबाध गति से बढ़ती आई है। उसका शरीर हल्का और कृशित अवश्य होता है, परन्तु यथार्थ चमत्कार तो वह अपने वर्गों के अद्वितीय वेग में दिखाता है। सिर भव्य रूप का पतला होता है। स्कंध पुष्ट और मांसल होते हैं। ग्रीवा लम्बी और दृढ़ होती है। पतला गहरा वक्षस्थल होता है तथा गोल धड़ होती है। उसकी दुम पिछले पैरों पर ऊँचे स्थित होती है। पिछले पैर इतने शक्तिसम्पन्न होते हैं कि उसे वायुवेग से मैदान में उड़ा से ले चलते हैं।

थारोब्रेड या तीव्रतम वेगगामी अश्व पर बड़ी ही सावधानी से सवारी करना आवश्यक होता है। क्योंकि वह बड़ा ही संवेदनशील तथा उत्तेजनाशील पशु होता है। वह दैनिक कृत्यों की अवहेलना करता है। इसका उपयोग केवल घुड़दौड़ के प्रदर्शन में ही नहीं होता, बल्कि उसके पुष्ट रूप की नस्ल का शिकार करने में उपयोग करते हैं। वे कुछ स्थितियों में अधिक भार भी वहन कर सकते हैं। यथेष्ट सहनशक्ति भी उनमें पाई जाती है। कितने ही देशों ने अपने यहाँ इस नस्ल के घोड़े इंगलैंड से क्रय कर मँगवाये जिससे स्वयं इंगलैंड को अपनी आवश्यकता के लिए अन्य नस्लों के उत्तम अश्व बाहर से मँगवाने पड़े।

पालतू घोड़ों के वेग की पराकाष्ठा तो ब्रिटिश नस्ल के घोड़े थारोब्रेड में पाई जाती है, परन्तु अमेरिका के वेगगामी घोड़े की नस्ल मेसेंजर भी कम वेगगामी नहीं होती। थारोब्रेड से ही इसकी भी उत्पत्ति हुई। दो मिनट और तीन या चार सेकंड में ही यह एक मील दौड़ सकता है। इसी प्रकार हंटर या शिकारी अश्व ३३ से ३७ फुट तक की कुदान कर सकता है।

गर्दभ

गर्दभ में शरीर पर केवल पीठ पर गर्दन के अयाल (केशर) से पूँछ तक एक पट्टी होती है अन्यथा सिर, गर्दन और धड़ पर पट्टियाँ नहीं होतीं। कभी-कभी कंधे के चारों ओर एक पट्टी होती है तथा पैर पर अनियमित धब्बे होते हैं।

अफ्रीका में जंगली गधा उत्तरी पूर्वी भाग के मरु प्रदेश में पाया जाता है। यह अबीसीनिया, सोमालीलैंड, गल्लालैण्ड, सूडान
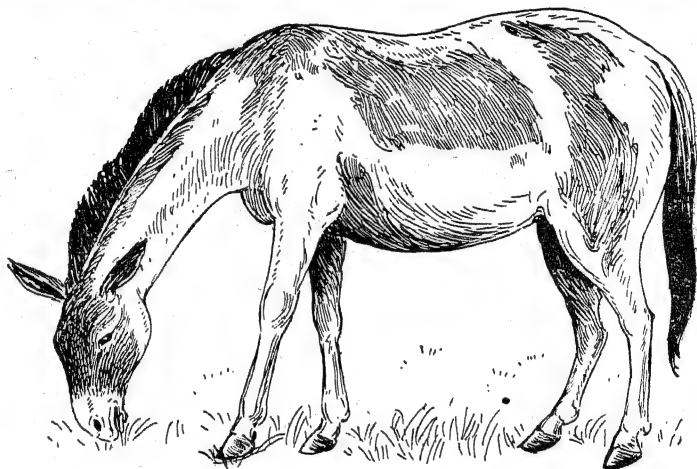
क्यांग (तिब्बती जंगली गधा)

और लाल सागर के तटीय शुष्क भूभागों में पाया जाता है। इसके प्रसार-क्षेत्र में जेब्रा बिलकुल नहीं पाया जाता। इसके कान लंबे होते हैं। कंधे के निकट इसकी ऊँचाई ४-४॥ फुट होती है। नूबियन वन्य गर्दभ तथा सोमाली वन्य गर्दभ नाम की दो उपजातियाँ अफ्रीका के वन्य गर्दभ की होती है। सोमाली उपजाति के जंगली

गधे का धूमिल रंग होता है, मध्य पीठ की पट्टी होती है किन्तु धूमिल रूप में चिन्हित होती है। कंधे पर भी की पट्टी भी नहीं होती किन्तु अगले और पिछले पैरों पर बहुसंख्यक धब्बे होते हैं।

अफ्रिकीय वन्य गर्दभ छोटे झुन्डों या ४, ५ के पारिवारिक दल रूप में रहता है तथा पर्वतीय भागों में नहीं पाया जाता। नीची पथरीली पहाड़ियों तथा शुष्क मरुस्थलीय बंजर में रहता है। यह चौकस रहने वाला पशु है। इसके निकट जाना कठिन होता है। यह इतना भगेड़ू तथा साहसी होता है कि शिशुओं तथा गर्भस्थ शिशु-भार से बोझिल मादा को छोड़कर इसे पकड़ना अत्यन्त कठिन होता है। इसे अच्छा घुड़सवार भी नहीं पकड़ सकता। अपने निवासस्थान के विरल वनस्पतियों युक्त होने पर भी ये मरुभूमि-वासी जंगली गधे सदा ही पुष्ट रहते हैं। रात को पानी के लिए दूर की यात्रा करते हैं। इन्हें नियमित रूप से पानी की आवश्यकता प्रतीत होती है।

एशिया में वन्य गर्दभ की अनेक उपजातियाँ हैं, परन्तु वे एक जाति के ही भेद हैं। इनका व्यापक क्षेत्रों में प्रसार है। ये एशिया के मरुस्थलों में सीरिया से लेकर ईरान, तथा पश्चिमी पाकिस्तान तक तथा उत्तर की ओर मध्य एशिया के अधिक शुष्क भूभागों में पाए जाते हैं। तिब्बत तथा मंगोलिया में जङ्गली गधा ऊँचे पहाड़ी पठारों में रहता है और समुद्र तल से १४००० फुट या अधिक ऊँचाई के स्थानों तक पाया जाता है। यह उपजाति क्यांग कहलाती है तथा अफ्रीका के जंगली गधे के ही आकार का होता है। कंधे के निकट इसकी ऊँचाई ५२ इंच होती है। इसका रंग गहरा ललाई युक्त भूरा होता है। पीठ के मध्य पतली पट्टी होती है। पश्चिमी पाकिस्तान का ओनेगर गधा छोटा और धूमिल रंग का होता है।

उसकी पीठ के ऊपर चौड़ी पट्टी होती है। यह समुद्र तल के बराबर ऊँचाई पर भी कहीं पाया जाता है।

अफ्रिकीय जंगली गधे की तरह एशियाई जङ्गली गधे भी बंजर स्थानों में रहते हैं। मरुभूमि तथा अंधड़ वाले ऊजड़ स्थानों में पाए जाते हैं। गर्भिणी गधी को छोड़कर उन्हें घुड़सवार भी अकेले नहीं पकड़ सकते। पाकिस्तान और ईरान के जंगली गधे आदमी से दूर भागने वाले होते हैं। किन्तु तिब्बत के जंगली गधे, क्यांग को आदमी के निकट जाने में घबड़ाहट नहीं होती।

एशियाई जंगली गधे तीन-चार या पाँच के पारिवारिक झुण्ड में रहते हैं किन्तु कभी झुंड भी बना लेते हैं। उनके निवासस्थानों के निम्न तलों की घास उनका आहार होती है, किन्तु ऊँचे पठारों पर उन्हें काष्ठीय हरियाली पर निर्भर रहना पड़ता है। गधों की भी प्रशंसा .सर सेमुअल नामक एक विद्वान ने इस प्रकार की है, "जिन लोगों ने केवल खच्चर को उनकी सभ्य स्थिति में देखा है, उन्हें वन्य गर्दभ या मौलिक जन्तु का कुछ अनुमान ही नहीं हो सकता। यह क्रियाशीलता तथा साहस की मूर्ति होता है।"

खच्चर

नूबियन जंगली गधे की एक पालतू जाति को डंकी कहते हैं। यह प्राचीन काल में अबीसीनिया और मिस्र के मध्य के भूभाग में पालतू बनाया गया था। वहीं से इसका अन्यत्र प्रसार हुआ। इसका रंग श्वेत, गहरा भूरा या धब्बे युक्त धूसर होता है। पट्टित रूप नहीं होता। इसकी बड़ी नस्ल के शरीर की ऊँचाई कंधे के निकट ५$\frac{1}{2}$ इंच तक पाई गई है, बौने रूपों की ऊँचाई २$\frac{2}{3}$, ३ फुट ही होती है।

घोड़े से डंकी या गधे के संयोग से वर्णसंकर संतान उत्पन्न

होती है। नर घोड़ा और मादा गधा होने पर वर्णसंकर संतान को हिन्नी कहते हैं तथा मादा (घोड़ी) और नर गधे का संयोग होने से उत्पन्न वर्णसंकर संतान म्यूल या खच्चर कहलाती है।

खच्चरों का महत्व कष्टसहिष्णुता और पैरों के धोखा न खाने में है। स्पेन, संयुक्त राज्य अमेरिका 'तथा पाकिस्तान के सीमान्त प्रदेश में सर्वोत्तम खच्चर उत्पन्न किए जाते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि खच्चरों में पट्टित रंग का रूप उत्पन्न होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि घोड़ों का प्रारंभिक रूप पट्टित ही था। पीठ के मध्य तथा गर्दन पर पट्टियाँ घोड़ों में कभी-कभी उत्पन्न होती पाई जाती हैं किन्तु गधों में तो ये अधिकतर उत्पन्न होती मिलती हैं। संयुक्त राज्य में खच्चर के पैर पट्टित रूप धारण करते प्रतीत होते हैं। कहा जाता है कि दस खच्चरों में से नौ में पट्टित पैर पाए जाते हैं।

पट्टित गर्दभ (ज़ेब्रा)

हम ज़ेब्रा को पृषत् या पट्टित गर्दभ कहना कुछ अनुचित नहीं समझते। ज़ेब्रा अश्ववंशीय पशु है। इन्हें घोड़ों का बन्धु कहा जा सकता है। इसके शरीर की सुन्दर रंगीन पट्टियों से इसका रूप सारे जंतु-जगत में विचित्र रंजित होता है। यह मुख्यतया ब्रिटिश पूर्वी तथा मध्य अफ्रीका में पाया जाता है। श्वेत या हल्के बादामी (मक्खनियाँ) रङ्ग की पृष्ठभूमि पर काले या गहरे भूरे रंग की पट्टियाँ इसके शरीर पर विद्यमान होती हैं। यह सहारा के दक्षिण मैदानों में झुण्ड रूप में रहता है। इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं : (१) पहाड़ी ज़ेब्रा, (२) ग्रेवी ज़ेब्रा तथा (३) बोंटेक्वेग्गा। क्वेगा की विलुप्त नस्ल भी इस तीसरी जाति में संयुक्त मानी जाती है।

पहाड़ी ज़ेब्रा दक्षिणी अफ्रीका का पशु है। इसके शरीर पर श्वेत रंग की पृष्ठभूमि में पतली काली पट्टियाँ होती हैं। इसकी विशेष पहचान यह होती है कि पिछले भाग में त्रिशूल या बहुशूल रूप की पट्टियाँ होती हैं, जिनमें नीचे आधार की एक पट्टी ऊपर वक्रित होकर फाँकों रूप में बँटी-सी होती है। यथार्थ में पीठ के अगले तथा मध्यवर्ती भाग में तो खड़ी-खड़ी पट्टियाँ होती है परन्तु पैरों तथा जंघे पर आड़ी पट्टियाँ होती हैं। अतएव इन दोनों का मेल करने के लिए जीन कसे जाने के भाग से पीछे के भाग में पट्टियों का ऐसा रूप होता है।

पहाड़ी ज़ेब्रा की मुख्य नस्ल उत्तमाशा अंतरीप के पहाड़ों में साधारणतया पाई जाती थी, किन्तु अब केवल कैडक जिले के संरक्षित भूभाग में ही पाई जाती है। एक उपजाति को हार्टमैन ज़ेब्रा कहते हैं। यह उपजाति अंगोला तथा डमारालैंड के पतले तटीय भूभाग में पाई जाती है।

पहाड़ी ज़ेब्रा का अधिक प्रसार कभी भी नहीं था। यह सबसे छोटे आकार का ज़ेब्रा होता है। खड़े होने पर इसकी ऊँचाई कन्धे के निकट ४८ या ५० इञ्च होती है। यह बहुत ही सुन्दर पशु है। शरीर के अधोतल तथा जंघे के भीतरी तल को छोड़कर शेष सारे अंगों, सिर धड़ तथा पैरों पर पट्टियाँ होती हैं। शरीर के रंग की पृष्ठभूमि श्वेत होती है। पट्टियाँ काली होती हैं तथा थूथन चमकीला भूरा होता है। पिछले और अगले दोनों पैर खुर तक पट्टित होते हैं। गर्दन तथा धड़ पर की पट्टियाँ पतली होती हैं तथा बोंटेक्वेग्गा की अपेक्षा बहुसंख्यक होती हैं।

पहाड़ी ज़ेब्रा कदाचित् कभी भी मैदानी भाग का निवासी नहीं था। वह अन्य ज़ेब्रा के विपरीत पर्वतीय स्थलों का ही निवासी रहता आया है। अतएव मैदानी भाग के ज़ेब्रा के झुण्ड में नहीं

पाया जा सकता। अधिक से अधिक निर्जन जंगली स्थान ही इसे

पहाड़ी जेब्रा (पहाड़ी पट्टित गर्दभ)

पर्वतों में रुचिकर लगता है। इसकी वृत्ति भी भगदड़ तथा सतर्कता की रही है, अतएव इसके निकट पहुँचना कठिन ही रहा है।

ग्रेवी ज़ेब्रा सबसे बड़े आकार का ज़ेब्रा है। यह सबसे उत्तरी भूभाग का रहने वाला है। कंधे के निकट इसके शरीर की ऊँचाई ५ फुट होती है। धड़ तथा पैरों में खुर तक श्वेत पृष्ठभूमि पर पतली काली पट्टियाँ सघन रूप की होती हैं। पिछली पीठ पूर्ण श्वेत होती है। खुर चौड़े, कान बड़े तथा घने बालों युक्त होते हैं। इसका प्रसार दक्षिणी अबीसीनिया तथा सोमालीलैंड और पूर्वी अफ्रीका के निकटवर्ती भूभाग में पाया जाता है। इसके झुण्ड खुले या विरल वृक्षों के मैदान में रहते हैं। घनी झाड़ियों में नहीं रहते।

ग्रेवी ज़ेब्रा के शरीर की पट्टियाँ पहाड़ी ज़ेब्रा या अन्य ज़ेब्रा से विभिन्न रूप की होती हैं। धड़ की पट्टियाँ बड़ी पतली बहुसंख्यक तथा गहरे काले रंग की होती हैं और उसी प्रकार की पतली श्वेत पट्टियों द्वारा एक दूसरे से पृथक् होती हैं।

ग्रेवी जेब्रा के नितंबों पर की खड़ी-खड़ी पट्टियाँ भी अन्य सभी जेब्रों की अपेक्षा छोटी और बारीक होती हैं तथा पिछले पैर के ऊपरी छोर पर पट्टी हीन श्वेत तल मध्य पृष्ठ वर्ती पट्टी के दोनों पार्श्व में होता है। यह पृष्ठवर्ती पट्टी पीठ के मध्य में गर्दन के अयाल (केशर) से लेकर पूँछ तक दौड़ी हुई होती है। पहाड़ी जेब्रा की भाँति उदर तथा जंघे के भीतरी तल पर पट्टियों का अभाव होता है। पैरों में खुर तक पट्टियाँ बनी होती हैं।

ग्रेवी जेब्रा मैदानों का रहने वाला पशु है। घने जंगलों
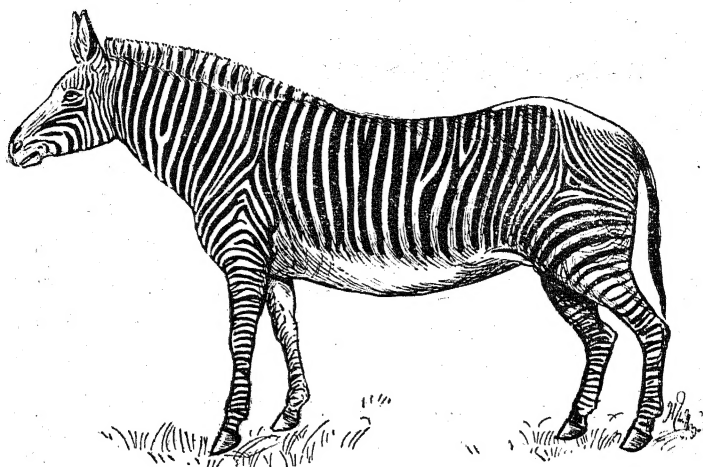
ग्रेवी जेब्रा (पट्टित गर्दभ)

से दूर ही रहता है। यह शुष्क भूभाग तथा नंगी पथरीली पहाड़ियों का निवासी है जहाँ छोटे वनस्पति ही होते हैं। इसे नित्य पानी पीने की आवश्यकता होती है। इसलिए यह जलखंड से दूर कभी भी नहीं पाया जा सकता।